# नेहू ज्योति

**हिंदी प्रकोष्ठ**
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
शिलांग-793022 (मेघालय)

# नेहू ज्योति

हिंदी प्रकोष्ठः पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय की पीयर रिव्यू वार्षिक पत्रिका
वर्ष 2025

संरक्षक
**प्रो. एस. उमडोर**
सम कुलपति
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग
provcshg@nehu.ac.in

संपादक मंडल
**प्रो. सौरभ कुमार दीक्षित**
कुलसचिव (प्रभारी)
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग
registrar@nehu.ac.in

**प्रो. स्ट्रीमलेट डखार**
विभागाध्यक्ष, खासी विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग
hodkhasi@nehu.ac.in

**डॉ. अरुण कुमार सिंह**
विधि विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग
aksingh@nehu.ac.in

**डॉ. शरद कुमार कुलश्रेष्ठ**
पर्यटन एवं होटल प्रबंधन विभाग
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग
sharadkul@nehu.ac.in

**डॉ. साईनाथ विट्ठल चपले**
हिंदी विभाग, नेहू, शिलांग
saichaple@nehu.ac.in

**श्री राजेन्द्र कुमार राम**
हिंदी अधिकारी
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग
hindiofficer@nehu.ac.in

संपादक
**प्रो. दिनेश कुमार चौबे**
विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग, नेहू, शिलांग
dkchoubey@nehu.ac.in

परामर्श मंडल
**प्रो. भागीरथी पांडा**
अर्थशास्त्र विभाग, नेहू, शिलांग
bpanda@nehu.ac.in

**प्रो. ए. के. सिंह**
जैव रसायन विभाग, नेहू, शिलांग
arvnehu@nehu.ac.in

**प्रो. ए.के. ठाकुर**
इतिहास विभाग, नेहू, शिलांग
akthakur@nehu.ac.in

**डॉ. एफ. आर. सुमेर**
पुस्तकालय अध्यक्ष, केन्द्रीय पुस्तकालय,
पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग
frsumer@nehu.ac.in

**डॉ. मुनीश सिंह**
निदेशक, आईसीसीआर, शिलांग
roshillong.iccr@nic.in

**प्रो. मिलन रानी जमातिया**
हिंदी विभाग, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, त्रिपुरा
milanrani@tripurauni.ac.in

**प्रो. दिलीप कुमार मेधी**
हिंदी विभाग, गौहाटी विश्वविद्यालय, गुवाहाटी
dkmedhigu@tripurauni.ac.in

**प्रो. पार्थ सारथी पाण्डेय**
क्षेत्रीय निदेशक, केंद्रीय हिंदी संस्थान, शिलांग केंद्र
rdshillong1976@gmail.com

लेखक के विचारों से संपादक मंडल का सहमत होना अनिवार्य नहीं है।

संपादक एवं प्रकाशक का पता
**हिंदी प्रकोष्ठ, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय**
प्रशासनिक भवन, नेहू परिसर, शिलांग-793022 (मेघालय)
दूरभाष : 0364-2721331

(इस पत्रिका का संपादन एवं प्रकाशन पूर्णतःअवैतनिक एवं अव्यावसायिक है।)

**मूल्य : तीस रुपये मात्र**

CHANDRASHEKHAR H. VIJAYASHANKAR
Governor

सत्यमेव जयते

RAJ BHAVAN
SHILLONG - 793001
MEGHALAYA
INDIA

# संदेश

यह अत्यंत प्रसन्नता का विषय है कि पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग के हिन्दी प्रकोष्ठ द्वारा राजभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार हेतु वार्षिक गृह पत्रिका 'नेहू ज्योति' के नौवें संस्करण का प्रकाशन होने जा रहा है। पत्रिका का यह अंक पूर्वोत्तर की भाषा, साहित्य और संस्कृति पर आधारित है, जो पूर्वोत्तर की एक खास पहचान है। इस अवसर पर हिन्दी प्रकोष्ठ एवं विश्वविद्यालय परिवार को हार्दिक बधाई।

हिन्दी हमारे देश की राष्ट्रभाषा, राजभाषा एवं संपर्क भाषा के रूप में प्रसिद्ध है। यह भारत ही नहीं बल्कि विदेशों में भी बोली जाने वाली एक भाषा के रूप में अपनी पहचान बना रही है जो अब विश्व में तीसरी सबसे अधिक बोले जाने वाली भाषा बन गई है। हिन्दी एक भाषा के रूप में न सिर्फ भारत की पहचान है बल्कि यह हमारे जीवन मूल्यों, संस्कृति एवं संस्कारों की सच्ची संवाहक, संप्रेषण एवं परिचायक भी है। हिन्दी बहुत सरल, सहज और सुगम भाषा होने के साथ आधुनिक विश्व की एक वैज्ञानिक भाषा है जिसे समझने, बोलने और चाहने वाले लोगों की बहुत बड़ी संख्या दुनिया भर में मौजूद है। हिन्दी भाषा की संरचना एवं प्रकृति इतनी उदार है कि वह दूसरी भाषा के गुण-धर्म एवं संरचना को अपनाते हुए तकनीकी परिवर्तन के अनुरूप स्वयं को विकसित करती हुई उन्हे आत्मसात कर लेती है।

आज देश के सभी नागरिकों से मैं हिन्दी के स्नेह को अपनाकर अपने सभी कार्य हिन्दी भाषा में अधिक से अधिक करने का आग्रह करता हूँ ताकि हिन्दी भाषा को राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त होने के साथ ही यह हमारे देश की एकता व अखंडता की मजबूत कड़ी बन सके।

पत्रिका के सफल प्रकाशन की कामना करते हुए 'नेहू ज्योति' के संपादक मंडल सहित सभी कार्मिकों को अपनी तरह से हार्दिक शुभकामनाएँ देता हूँ।

(सी. एच. विजयशंकर)

Phone : 0364-2223001 / 2223487
Email : rajbhavan-meg@gov.in
Fax : 0364-2224902

पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
जिलाः पूर्वी खासी हिल्स, शिलांग - 793022
मेघालय (भारत)

North-Eastern Hill University
District: East Khasi Hills, Shillong - 793022
Meghalaya (India)

**प्रो. एस. उमडोर**
**सम कुलपति**

दूरभाष/T. No. 0364-2550101/2721003
ईमेल /Email : provcshg@nic.in

## संदेश

मुझे यह जानकर अति प्रसन्नता हो रही है कि विश्वविद्यालय के हिन्दी प्रकोष्ठ द्वारा हिन्दी की पत्रिका 'नेहू ज्योति' के नौवें अंक का सफलतापूर्वक प्रकाशन किया जा रहा है। यह पत्रिका पिछले कई वर्षों से इस विश्वविद्यालय सहित पूर्वोत्तर क्षेत्र में राजभाषा हिन्दी के प्रचार-प्रसार में अपनी अहम भूमिका निभा रही है।

हमारा देश विभिन्न भाषा-भाषियों और संस्कृतियों का देश है जो भारत की विशेष पहचान है। उपवन में कई रंगो के फूलों की उपस्थिति से उपवन की शोभा बढ़ती है उसी प्रकार हमारे देश की विभिन्न भाषाएं देश का वैभव बढ़ाती हैं। उन सभी भाषाओं को एक सूत्र में जोड़ने का काम हिन्दी भाषा करती है। हिन्दी एकमात्र ऐसी भाषा है जो भारत के साधारण लोगों द्वारा बोली और समझी जाती है। मेघालय राज्य हिन्दीत्तर भाषी क्षेत्र होने के बावजूद संपर्क भाषा के रूप में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा दे रहा है जो हमारे लिए गौरव की बात है। विश्वविद्यालय परिसर में हिन्दी के प्रयोग को बढ़ावा देने के निरंतर प्रयास किए जा रहे हैं जिसमें इस पत्रिका योगदान को नकारा नहीं जा सकता। पूर्वोत्तर भारत के समाज, कला और संस्कृति को समर्पित यह पत्रिका निरंतर प्रकाशित हो रही है। पत्रिका के इस अंक से जुड़े सभी लेखक बधाई के पात्र हैं। पत्रिका को मूर्त रूप देने के लिए संपादक मंडल से जुड़े सभी सदस्यों एवं हिन्दी प्रकोष्ठ को हार्दिक बधाई देता हूँ।

आशा है यह अंक पाठकों के लिए रूचिकर और ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा। इस अवसर पर विश्वविद्यालय परिवार को ढ़ेर सारी शुभकामनाएं।

प्रो॰ एस उमडोर

(प्रो. एस. उमडोर)

पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय
जिलाः पूर्वी खासी हिल्स, शिलांग - 793022
मेघालय (भारत)

North-Eastern Hill University
District: East Khasi Hills, Shillong - 793022
Meghalaya (India)

**प्रो. सौरभ कुमार दीक्षित**
**कुलसचिव प्रभारी**

दूरभाष/T. No. 0364-2550067/27210 12
ईमेल : Email/registrar@nehu.ac.in

## संदेश

मुझे यह जानकर बहुत प्रसन्नता हो रही है कि हिन्दी प्रकोष्ठ, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय की वार्षिक हिन्दी पत्रिका 'नेहू ज्योति' के नौवें अंक का सफल प्रकाशन किया जा रहा है। यह पत्रिका पूर्वोत्तर के साहित्य, कला और संस्कृति से जुड़े विषयों को अपने कलेवर में लिए हुए प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका के माध्यम से पूर्वोत्तर की एक छवि को पाठकों तक पहुँचाने में सफलता मिलेगी। इस अंक हेतु अपनी लेखनी से योगदान देने वाले सभी लेखकों को मेरी ओर से हार्दिक बधाई।

भाषा संस्कृति की संवाहक होती है। यह किसी प्रदेश के साहित्य एवं समाज की सांस्कृतिक विशेषताओं को दूसरे समाज से जोड़ने का कार्य करता है। भारत को एक सूत्र में पिरोने का श्रेय हिन्दी भाषा को जाता है। हिन्दी प्रकोष्ठ की वार्षिक पत्रिका 'नेहू ज्योति' का दायित्व इस दिशा में और भी बढ़ जाता है। यह पत्रिका अपने उत्तरदायित्वों का निर्वहन भलीभांति कर रही है। इसमें शामिल किये गये आलेख और भी विस्तृत फलक प्रदान करेंगे। उम्मीद है यह अंक पाठकों को काफी पसंद आएगा। पत्रिका के सफल प्रकाशन हेतु संपादक मंडल एवं इस अंक के सहयोगी रचनाकार धन्यवाद के पात्र हैं।

पत्रिका के सफल प्रकाशन पर विश्वविद्यालय परिवार के सभी अध्यापक, अधिकारी, कर्मचारी, शोधार्थी एवं विद्यार्थियों को हार्दिक शुभकामनाएं।

(प्रो. सौरभ कुमार दीक्षित)

आचार्य एस के दीक्षित
Prof. S. K. Dixit
कुलसचिव प्रभारी
Registrar i.c
नेहू, शिलांग - 793022
NEHU, Shillong - 793022

# संपादक की कलम से

आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रमुख हस्ताक्षर भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कहा था कि अपनी भाषा सबसे मधुर एवं प्यारी होती है। वस्तुतः अपनी भाषा में भावाभिव्यक्ति जितनी सरल, सहज, स्वाभाविक होती है, उतनी द्वितीय या तृतीय भाषा में नहीं होती। इसे ध्यान में रखते हुए राष्ट्रीय शिक्षा नीति 2020 में मातृभाषा को अधिक महत्व दिया जा रहा है। भाषा की चर्चा सरकारी तथा गैर सरकारी दोनों स्तरों पर की जा रही है। एक बात उल्लेखनीय है कि कुछ लोगों के मन में हिंदी दिवस एवं राजभाषा के स्वरूप को लेकर स्थिति स्पष्ट नहीं है। हिंदी दिवस मनाने का यह कदापि उपयुक्त अवसर नहीं माना जा सकता क्योंकि 14 सितंबर 1949 से हिंदी का प्रारंभ नहीं हुआ। हिंदी एक हजार वर्ष से लोगों की अभिव्यक्ति का माध्यम रही है, जिसमें हम अपभ्रंश, खड़ी बोली, मैथिली के कवियों सरहपा, अमीर खुसरो, विद्यापति, गोरखनाथ,चन्दवरदाई, कबीर जैसे कवियों की कृतियों का रसास्वादन करते हैं।  राजभाषा हिंदी की घोषणा भारतीय संविधान के निर्मित एवं देश के स्वतंत्र होने पर 14 सितंबर 1949 ई. को हुई। तभी से यह दिवस राजभाषा हिंदी दिवस है, हिंदी दिवस नहीं।  हिंदी की लोकप्रियता सम्पर्क भाषा के रूप में वैश्विक स्तर में बढ़ती जा रही है। आज हिंदी न केवल राजभाषा दिवस के रूप में मनायी जाती है बल्कि विश्व हिंदी दिवस के रूप में प्रति वर्ष 10 जनवरी को मनायी जाती है और इसका वैश्विक स्तर पर सम्मेलन न केवल देश में वरन विदेशों में भी आयोजित किया जाता है। इस तरह से इसके विस्तार का अनुमान सहज रूप से लगाया जा सकता है।

पिछले एक दशक में इस पत्रिका में प्रकाशित अनेकविध आलेख पूर्वोत्तर भारत की एक गंभीर विचार, जनमानस की चेतना को अंकुरित करने में समर्थ हुए हैं अपनी रचनात्मकता के आधार पर इस अंक में प्रकाशित आलेखों के माध्यम से रचनाकारों ने पूर्वी एवं पूर्वोत्तर क्षेत्र के वैविध्य की गंभीरता को स्पष्ट करने का सत्प्रयास किया है, पत्रिका के सभी रचनाकारों, विद्वानों का हार्दिक आभार। इस पत्रिका को साकार करने के लिए विश्वविद्यालय के सम कुलपति, कुल सचिव, वित्ताधिकारी, संपादक मंडल, परामर्श मंडल के सदस्यों एवं रिव्यू करने वाले विद्वानों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करता हूं।

नेहू ज्योति का गत अष्टम पुष्प पूर्वोत्तर भारत के भाषा, साहित्य, संस्कृति पर

आधारित विशेषांक था। नवम अंक निर्बंध है इसमें विविधता है। पूर्वोत्तर भारत की सृजनशीलता, भाषिक, साहित्यिक, सांस्कृतिक क्षेत्र स्वरूप को समेटने का प्रयास है। पूर्वोत्तर क्षेत्र के साथ शेष भारत की भी कुछ रचनाएं शामिल की गई हैं ताकि यह स्पष्ट हो सके कि पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय शिलांग से प्रकाशित नेहू ज्योति पूर्वी तथा पूर्वोत्तर भारत के साथ देश के अन्य प्रांतों की भी स्थानीय विविधता की बारीकियों से परिचित करा सके। नवोदित लेखकों एवं विद्वानों के लिए ध्यातव्य है कि यह पत्रिका अब पियर रिभ्युव के रूप में प्रकाशित की जा रही है अंत में सभी सहृदय पाठकों से पत्रिका के संबंध में परामर्श के लिए निवेदन करते हुए पत्रिका का नवम अंक पुष्प अर्पित है।

अप्प दीपो भव

स्थान : शिलांग

**—प्रो. दिनेश कुमार चौबे**
सम्पादक, नेहू ज्योति

# अनुक्रम


| | | | |
|---|---|---|---|
| संपादक की कलम से... | | | 11 |
| 1. | त्रिपुरा की जनजातीय व्यथा-कथा एवं रुङ उपन्यास | **प्रो. मिलन रानी जमातिया** | 15 |
| 2. | गारो जनजाति का सांस्कृतिक -सामाजिक जीवन | **कीर्ति उपाध्याय** | 21 |
| 3. | अरुणाचल प्रदेश में शिक्षाः विकास, चुनौतियाँ और भविष्य की दिशा | **डॉ. जोराम आनिया** | 28 |
| 4. | बंकिम चंद्र की रचनाओं में राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना | **डॉ. काजू कुमारी साव** | 43 |
| 5. | नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्री पात्रों की भूमिका | **डॉ. राहुल देव पांडेय** | 50 |
| 6. | नागालैण्ड की सांस्कृतिक पहचान | **नीता शर्मा** | 55 |
| 7. | कान खाऊ (कान खोवा) भक्ति और वात्सल्य का संयोग | **गीता लिंबू** | 61 |
| 8. | हिंदी निषेधात्मक शब्द रचना | **डॉ. चन्दन सिंह** | 70 |
| 9. | पूर्वोतर में बोलचाल एवं शिक्षण में हिंदी का प्रसार (नागालैंड के विशेष सन्दर्भ में) | **डॉ. चन्द्रशेखर चौबे** | 75 |
| 10. | दीवा रास-शास्त्रीय मणिपुरी रासलीला नृत्यों में से एक | **डॉ. खंगामबम खोनी** | 81 |
| 11. | उ मानिक राइतोंग-खासी लोककथा का विश्लेषण | **डायाफिरा खारसाती** | 95 |
| 12. | मणिपुरी कहानियाँ : विविध परिप्रेक्ष्य | **डॉ. लोङ्जम रोमी देवी** | 102 |
| 13. | पूर्वोत्तर भारत के राज्यों का इतिहास एवं वर्तमान | **राजेंद्र कुमार राम** | 107 |
| 14. | बौद्ध दर्शन एवं शिक्षा का व्यावहारिक स्वरूप | **डॉ. कृष्ण कुमार साह** | 115 |
| | लेखकों का परिचय | | 122 |

# त्रिपुरा की जनजातीय व्यथा-कथा एवं रुङ उपन्यास

**प्रो. मिलन रानी जमातिया**

'कॉकबरक' त्रिपुरा की प्रमुख जनजातीय बोली है। बंगला भाषी के अतिरिक्त इस राज्य के अन्य सभी जनजातीय समुदाय एक-दूसरे से संवाद करने के लिए संप्रेषण भाषा के रूप में कॉकबरक भाषा का ही इस्तेमाल करते हैं। यह तिब्बती-बर्मी भाषा-परिवार से व्युत्पन्न पूर्वोत्तर की भाषाओं, यथा, बोड़ो, गारो, दिमासा, कोच आदि की सहोदरा भाषा है।

एक विकसित भाषा के साथ नजदीकी संबद्धता होने और सदियों से उपेक्षा के दंश झेलने के बाद भीकॉकबरक भाषा में स्वयं को राज्य की सामान्य भाषा के रूप में बनाए रखने की क्षमता है। इतना ही नहीं यह अब विकसित होकर साहित्य की भाषा भी बन गई है। इसका सबसे बड़ा प्रमाण है, इस भाषा में रचित 13 (तेरह) मौलिक उपन्यास है।उपन्यासों का उदय कॉकबरक साहित्य में एक ऐतिहासिक महत्व रखता है। इससे समकालीन सामाजिक, सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं राजनीतिक आन्दोलनों की गतिविधि की जानकारी आमजन को मिली, साथ ही नए समाज के गठन की दिशा का मार्गदर्शन भी हुआ। कॉकबरक के कथाकारों ने अपनी लेखनी द्वारा कॉकबरक-कथासाहित्य को एक गम्भीर साहित्य के रूप में न केवल प्रतिष्ठित किया, बल्कि अपनी अद्भुत शैली द्वारा कॉकबरक साहित्य के पाठकों की रूचियों का संस्कार कर असंख्य कॉकबरक पाठकों का भी निर्माण किया है। कॉकबरक गद्य-भाषा को उन्होंने जो शक्ति और क्षमता प्रदान की, उससे निश्चित रूप से कॉकबरक का उज्ज्वल भविष्य का निर्माण हुआ है। अब तक लिखे गए प्रमुख कॉकबरक उपन्यासों के नाम इस प्रकार हैं-हाचुक खुरिवो (पहाड़ की गोद में)-सुधन्य देबबर्मा, 1987, खङ (सीमा-रेखा)-श्यामलाल देबबर्मा, 1996, रुङ (नौका)-नन्दकुमार देबबर्मा, 2001, मोनाकनि पोहर (रोशनी की किरण)-कुंजबिहारी देबबर्मा, 2002, लाङमानि रुकुङ (जीवन-संघर्ष)-सुनील देबबर्मा, 2003, 1980-डॉ. अतुल देबबर्मा, 2005, तङथाई नायतुगोई (आसरे की तलाश में)-श्यामलाल देबबर्मा, 2007, दलाई तोयमा नारो (दलाई नदी के तट पर)-बिजय देबबर्मा, 2008, लखोपति-शेफाली देबबर्मा, 2010 और चेथुवाङः सुधन्य देबबर्मा, 2017 आदि।ये उपन्यास आज

तक किसी विमर्श का हिस्सा नहीं बना, यहाँ क्या घटा, उसने आमजन पर क्या प्रभाव डाला, उनका संघर्ष क्या है, यहाँ की रचनाओं में समय और यथार्थ की अभिव्यक्ति किस प्रकार से की जा रही है, खासियत क्या है? कभी चर्चा का विषय नहीं बन पाया। यहाँ तक कि कॉकबरक भाषा के स्थापित लेखकों एवं समीक्षाकों ने भी इन उपन्यासों को अपनी पुस्तकों में एक पेराग्राफ से ज्यादा जगह नहीं दी। हमसभी हिंदी के उपन्यासकारों -प्रेमचंद, अज्ञेय, वृन्दावनलाल वर्मा, यशपाल, उपेन्द्रनाथ अश्क, नागार्जुन, अमृतलाल नागर, श्रीलाल शुक्ल निर्मल वर्मा आदि कोभलीभांति जानते हैं, उनकी रचनाओं की चर्चा सभी शिक्षण संस्थाओं एवं संगोष्ठियों में होती है। लेकिन उनके अलावा भी अन्य रचनाकारों ने यथार्थ जीवन-समाज एवं घटनाओं को आधार बनाकर लेखन की है। मैं यहाँ यथार्थ घटना पर आधारित 'रुङ' नामककॉकबरक उपन्यास कीचर्चा करूँगी। और बात को यहाँ से शुरू करना चाहूँगी-यह मत पूछो कि क्या हाल है मेरा तेरे आगे, ये देख कि क्या रंग है तेरा मेरे आगे....।'रुङ' उपन्यासकालेखकनंदकुमार देबबर्माजी है, वे कॉकबरकभाषा-साहित्य के नामचीन साहित्यकार है। वे मूलतः कवि है किन्तु कॉकबरक साहित्य की अन्य विधाओं जैसे-उपन्यास, कहानी, निबंध, नाटक, यात्रावृतांत आदि में भी उन्होंने अपनी लेखनी चलाई है।उनकी रचनाओं में जहाँ कॉकबरक साहित्य संबंधी नवीन विषयों का ग्रहण हुआ, वहीं पुरानी परंपरा का संरक्षण भी-भाव एवं शिल्प दोनों क्षेत्रों में। उन्होंने जनजातीय-समाज में प्रचलित कुसंस्कारों, छल-कपट, अमीरों की स्वार्थपरता, नेताओं और कर्मचारियों की लूट-खसोट, अदालतों में प्रचलित अन्याय-अनीति, कॉकबरक भाषा के प्रति सरकार का पक्षपातपूर्ण व्यवहार, देश-विदेश की सामान्य दुरावस्था, तत्कालीन शासन के आर्थिक शोषण आदि नए विषयों को लेखन का आधार बनाया। इनकी रचनाओं में प्राचीन जनजातीय जीवन पद्धति 'झूमकृषि' के प्रति मोह एवं उसे बनाए रखने की उद्दत लालसा की अभिव्यक्ति देखी जा सकती है।

'रुङ'[1] (सन् 2001 ई.) उनके द्वारा रचित प्रसिद्ध कॉकबरक उपन्यास है। उपन्यास का समय 1950 ई. से 1970 ई. तक का है। जिसकी कथा का मूल आधार दुम्बूर बाँध निर्माण के क्रम में राइमा-सरमा[2] नदी के किनारे बसे बरक समुदाय[3] के विस्थापन से उत्पन्न दुःख-दर्द, गरीबी, निरक्षरता, बेरोजगारी और भूमिहीनता है। दूसरे शब्दों में कहे तो बरक समुदाय विकास के नाम पर किस तरह व्यवस्था द्वारा ठगे गए उसका खुलासा उपन्यास में किया गया है।

तत्कालीन त्रिपुरा सरकार द्वारा आधुनिकता एवं विकास के नाम पर राइमा एवं सरमा नदियों के संगम स्थल पर Dumbur Hydro-Electric Project के तहत बाँध बनाया गया। जिसे स्थानीय भाषा में दुम्बूर प्रोजेक्ट या बाँध कहा जाता है। विडम्बना

1 नौका

2 सरमा नदी को अन्य स्थानीय भाषा में साइमा नदी भी कहा जाता है।

3 बरक जनजाति के अंतर्गत त्रिपुरा की आठ मुख्य जनजातियाँ आती हैं, यथा, त्रिपुरी/देबबर्मा, रियांग, जमातिया, नोवातिया, मूरासिंह, रुपिनी, कलाई एवं उचई।

यह है कि प्रोजेक्ट एप्रुव्ध होने से पहले या जब प्रोजेक्ट-योजना बनाई जा रही थी तब वहाँ बसे हुए जनजातियों से एक बार भी नहीं पूछा गया था, न ही उन्हें इस योजना की जानकारी दी गई थी। नतीजा यह हुआ कि जब बाँध बनकर तैयार हुआ तो एक-एक करके आस-पास के गाँव पानी में डूबते चले गए और वहाँ बसे लोगों कोरातों-रात विस्थापित होना पड़ा। राइमा-सरमा से विस्थापित होकर वे और घने जंगलों एवं पहाड़ों में चले जाते हैं और यहीं से शुरू होती है उनके जीवन की करूण गाथा। साथ ही राइमा-सरमा की गोद से जन्म लेता है भुवन रुवाजा जैसे चरित्र।

पूर्व पुरुषों की जमीन से विस्थापित भुवन रुवाजा, जिसने अभी-अभी गृहस्थ-जीवन में कदम रखा, उसकी आँखों में यौवन के सपने थे। उसने प्रेयसी के साथ मिलकर भविष्य के सुन्दर ख्वाब बुने थे। जिसके लिए राइमा-सरमा केवल नदियाँ ही नहीं संस्कृति के स्रोत थीं। जीवन के प्रत्येक पहलुओं से जुड़ी हुई एवं जनजातीय जीवन के आधार, इतिहास, मूल्यों, सभ्यता-संस्कृति, अस्तित्व और पहचान के प्रतीक थीं।अब वह राइमा-सरमा नहीं रही बल्कि कुछ और हो गई थी इसीलिए वह इस दुःख और सदमा को सह नहीं पाता और पागल हो जाता है।

त्रासदी यह है कि अब भुवन रुवाजा को कोई नहीं पहचानता है। उसके अपने रिश्तेदार, गाँव के लोग यहाँ तक कि दूर-दराज गाँवों में रहने वाले लोग भी उसे पागल ही कहते हैं। आज उसका परिचय केवल एक शब्द में सिमटकर रह गया 'भुवन कबर'[4]। लेखक के शब्दों में-'जब छोटे-छोटे नावों को खेते हुए लोग भुवन रुवाजा के गाँव के किनारे से रोजमर्रा की जरूरतों को लेनेबाजार-हाट के लिए निकलते थे और साँझ को धरती जब स्वर्णिम किरणों में रंग जाती थी, सूरज गाभिन बिल्ली की तरह जब सुस्ताता था तो दूसरी तरफ पहाड़ी गाँव के परित्यक्त झूमखेत में किसी विधवा स्त्री के आँसुओं में डूबकर गेंदे का फूल जब खिलता था। मामिता पूजा के इंतजार में तिल का पौधा जब सूख जाता था, भावी भविष्य के सपने बुनती हुई युवतियाँ जब रिसा[5] की कसीदेकारी भूल जाती थी, ऋतुओं के संधिकाल में कोहरे से ढका हुआ जलसागर जब आकाश से बातें करता था...पानी के किनारों की पहाड़ियों पर जब खुम रुङखु[6] की कलियाँ खुशबू बिखेरती थी, तब भुवन रुवाजा का पागलपन और बढ़ जाता था।'[7]

वह छाती पीट-पीटकर रोता, रोते-रोते साधना में लीन जलसागर को गाली देता, उसकी ओर देखकर थूकता, फिर अचानक घर के भीतर से एक लम्बी दाव निकालकर लाता और चिल्लाकर कहता-'इस जलसागर को आज मैं टुकड़े-टुकड़े कर दूँगा।[8]आगे भुवन रुवाजा के पागलपन को और विस्तार देते हुए लेखक कहता है कि 'भुवन रुवाजा

4 पागल भुवन

5 पारंपरिक पोशाक

6 फूल का नाम

7 नंदकुमार देबबर्माः रुङ, पृ.10

8 वही, पृ.10

जबजब रोता है, साथ में हवाएँ रोती हैं, फूल, कलियाँ, पत्ते रोते हैं, आसमान रोता है, झरने-नदियाँ रोते हैं, भोर की ओस की बूँदें रोती हैं, बरक समाज के सभ्यता-संस्कृति को निगलने वाला जलसागर भी रोता है...।'[9]

पढ़े-लिखे सभ्य लोगों की नजर में दुम्बुर बाँध निर्माण समाज एवं जाति उत्थान के लिए था।यह बरक जनजाति का पुनर्जन्म या नया सूर्योदय एवं नई रोशनी था। भुवन रुवाजा पढ़ा-लिखा और समझदार नहीं था इसलिए उसे ये बातें समझमें नहीं आती थी। उसे बस इतना ही पता था कि पूर्वजों की भूमि उसे अब वापस नहीं मिलेगी। वह जिन्दगी द्वारा ठगे गए, जादूनि लाङमानि बुमूल अर्थात जीवन के अनचिह्ने कसीदेकारी अब स्मृति या यादों का हिस्सा है। रात और दिन कुछ भी नहीं बदले, वही हवाएँ, वही प्रकाश, वही धरती और आकाश हैं। सब पहले जैसा है। आज भी साल भर गाँवों में लोकोत्सव मनाए जाते हैं। ऋतुएँ आती हैं और चुपचाप चली जाती हैं लेकिन बरसात के दिनों में टूटे छप्पर से जैसे लगातार पानी टपकता है उसी तरह भुवन रुवाजा के आँखों से निरंतर पानी बहता है।साथ ही वह ध्यान मग्न जलसागर से कहता है-'मेरे गाँव और हूक[10] को तुम कहाँ ले गए, मुझे मेरे गायरिंग[11] और चखा[12] लौटा दो।'[13]

विवेच्य उपन्यास में भुवन रुवाजा के माध्यम से जहाँ विस्थापन के बाद उत्पन्न हुए बरक जनजाति की असीम वेदना एवं अस्तित्व-संघर्ष की कथा कही गई। वहीं लेखक अतीत के कुछ सुन्दर दृश्य को भी प्रस्तुत करते हैं।भुवन रुवाजा के गाँव का वर्णन लेखक ने कुछ इस तरह से किया-'चारों तरफ पानी से घिरे हुए छोटे-छोटे पहाड़ी टीलों के बीच बसे हुए भुवन रुवाजा के गाँव में आसमान कुछ गहरे नीला रंग में डूबा रहता था। चाँदनी की ठंडक रात की शोभा बढ़ाती थी। गाँव में प्रत्येक दिन सामाजिक अनुष्ठान एवं उत्सव होते थे। लोकानंद से भरपूर था लोगों का जीवन। युवक-युवतियों के हाथों से दाङदू[14] और चङप्रेङ[15] कभी अलग नहीं होते थे। युवतियों की नखरें और चेहरों पर थिरकती मुस्कान उनके मन के उल्लास को अभिव्यक्त करते थे। प्रेमी द्वारा बुइसू[16] में दिए गए 'रिसा'[17] अर्थात प्रेम-भेंट उनके गोरे रंग एवं शरीर की सुन्दरता को और बढ़ाती थी।'[18]

इसी तरह बरक जनजाति की जीवन-पद्धति का भी विस्तार से वर्णन करते हुए उपन्यासकार कहता है कि-'राइमा-सरमा नदी के किनारों के टीलों पर चारों तरफ हूक

9 वही, पृ.11
10 झूमखेत
11 मचान
12 चर्खा
13 देबबर्मा, नन्दकुमारः रुंङ, पृ.11
14 लोक वाद्य
15 लोक वाद्य
16 त्योहार का नाम
17 पारंपरिक पोशाक
18 वही, पृ. 9

(झूमखेत) और परित्यक्त झूम खेत हैं। जनजाति पुरुष एवं महिलाएँ उसे लगातार अपने श्रम से सींचते हैं किन्तु उनके चेहरों पर कोई थकान नहीं, निराशा नहीं बल्कि वे तो जीवन का पूरा आनन्द उठाते हुए उमंग एवं उत्साह से काम करते हैं। वे अपने आनन्द एवं खुशी की अभिव्यक्ति कभी चङप्रेङ,[19] दाङदू,[20] सुमूई[21] की तान छेड़कर तो कभी गॉरिया एवं हजाइगिरि नृत्य के माध्यम से करते हैं।'[22]

उपन्यास में बिदु बाबू जैसे नेताओं के चरित्र पर भी व्यंग्य किया गया है। जो केवल वोट बैंक बढ़ाने के लिए बार-बार भोली-भाली जनता को ठगते हैं। उनसे बड़े-बड़े वायदे करते हैं, सपने दिखाते हैं लेकिन अपना उल्लू सीधा होते ही तुरंत गाँव वालों को भूल जाते हैं। उपन्यास में जब आम जनता कई समस्याओं से जूझ रही थी, तब बिदू बाबू जैसे नेता कहीं भी नहीं थे। इनमें केवल बाहर के ही लोग नहीं थे, कुछ स्थानीय लोग भी शामिल थे। एक तरफ इस तरह की विषम स्थितियाँ थीं तो दूसरी तरफ बरक समुदाय के अधिकाँश पढ़े-लिखे यानी शिक्षित वर्ग जिसने दुनिया देखी हुई है, जो समझदार कहलाते हैं वे इन समस्याओं एवं विषमताओं को आँख खोलकर देखना नहीं चाहते थे। उनके आचार-विचार भी समाज को दिशाहीन बना रहे थे।

उपन्यास में बिमल और जुगेस जैसे चरित्र भी हैं। जिनमें जातीय एवं सांस्कृतिक चेतना अभी शेष हैं। वे जनजाति समुदाय को जगाना चाहते हैं, उनमें शैक्षणिक चेतना का संचार करना चाहते है। इस बात को वे अपने अन्य शिक्षक दोस्तों के सामने भी रखते हैं लेकिन कोई भी उनका साथ नहीं देता। किन्तु बिमल चुपचाप बैठने वालों में से नहीं था। उसे अहसास है कि बरक जनजाति अपनी भाषा-संस्कृति, अपने जीवन मूल्यों के प्रति अभी सचेतहुए ही नहीं कि एक नई समस्या उनके जीवन में काल बनकर आ गई। ऐसे में इन्हें राह न दिखाई जाए, इनकी रक्षा न की जाए तो वह दिन दूर नहीं तमामगाँवों की तरह उनकी सभ्य-संस्कृति भी इसी पानी में डूबकर हमेशा-हमेशा के लिए मौन हो जाएगी। इसलिए वह आस-पास के गाँवों के चकद्री[23] को बुलाकर बातचीत करता है। उनकी समस्याओं को सुनता है और उन्हें जमीन जायदाद के कागजात बनवाने के लिए प्रेरित करता है।

एक दिन गाँववालों की बैठक में वह यही समझा रहा था कि जिसके पास जमीन-जायदाद के कागजात नहीं है, वे जल्दी बनवा लें अन्यथा उन्हें सरकार से जमीन की क्षतिपूर्ति नहीं मिलेगी। इसी बीच एक आदमी खड़ा होकर प्रश्न पूछता है-'हमारे पास जमीन-जायदाद संबंधित कागजात नहीं है इसलिए हमें क्षतिपूर्ति भी नहीं मिलेगी, हमारा भविष्य अंधकार में है, यह हमें दिख रहा है लेकिन ये जमीन हमारी है, हम पीढ़ी दर

19 लोक वाद्य
20 लोक वाद्य
21 बाँसूरी
22 भूमिका से
23 मुखिया

पीढ़ी यही रहते आए हैं, केवल कागज के टुकड़े हमारे पास नहीं है इसलिए भेड़-बकरियों की तरह हमें खदेड़ा जा रहा है...मानते हैं कि हम पढ़े-लिखे नहीं है इसलिए हमारे पास खुद की जमीन के भी कागजात नहीं है लेकिन सरकार को तो सारी जानकारी है? केवल हमारा ही दोष नहीं है, सरकार का भी उतना ही दोष है।'[24]

सबकी बात सुनने के बाद नारायण मंडल भी अपनी बात सबके सामने रखता है-'मैं भी कॉकबरक में ही बोलूँगा, अभी-अभी हमने जो योजना बनाई कि आने वाले सप्ताह में बिदू बाबू से मिलकर बात करेंगे, मैं उससे सहमत हूँ। यह जातीय समस्या न होकर हम सबकी समस्या है। मातृभूमि से अलग होने का दर्द क्या है, वह हम अच्छी तरह जानते हैं क्योंकि हम ऐसे लोग हैं जिन्हें अपनी ही जन्मभूमि से खदेड़ा गया। उस दुःख को अभी हम भूल भी नहीं पाए कि दुबारा वही समस्या काले बादल बनकर जीवन में आ गई। यद्यपि हमारे पास जमीन के कागजात है किन्तु दुःख तो दुःख ही होता है, हम तुम्हारे साथ हैं।'[25] बांग्ला भाषी समुदाय के लोग भी जनजातियों की इन समस्याओं, दुःख एवं पीड़ा में शामिल है।यह वह समय था जहाँ सामान्य मनुष्य अपने सारे शिकवे-गिले भुलाकर एक हो जाते हैं और सुख-दुःख में एक दूसरे का साथ देते हैं।

बिमल के सारे जातीय एवं समाज उत्थान कार्यों में जुगेस साथ देता है। उसके लिए बिमल एक आदर्श शिक्षक एवं नेता है। बरक समाज को ऐसे ही मार्ग दर्शक की आवश्यता है, इसलिए वह भी उसके नक्षे कदमों पर चल पड़ता है। वह जब-जब विश्व के अन्य भाषा-भाषी समुदाय के इतिहास को पढ़ता है या समाज में क्रांति लाने वालेचिंतक कार्ल मार्क्स, हूचि मिन (Huchi Min) एवं माउत्सेतुंग आदि के विचारों को पढ़ता है तो वह भीतर से आहत होता है।

जनजातियों के निरंतर पिछड़ने के कारणों को भी उपन्यास में परत-दर-परत उघाड़ते हुए उपन्यासकार ने कई 'राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक संबंधीमहत्वपूर्ण सवाल खड़े किए हैं। स्वतंत्रता के बाददेश में अनेक परिवर्तन हुए, बहुसंख्यक जनजाति अल्पसंख्यक हो गई, भूमि पुत्र अब शरणार्थियों-सा जीवन जी रहा है। उनकी आर्थिक, सामाजिक, शिक्षा एवं संस्कृति के विकास के लिए कोई भी स्वतंत्र पथ नहीं है, तथापि जाति-उपजातियों के विकास के लिए संविधान में अनेक लिखित नियम हैं।

अंततः यह कहा जा सकता है कि विवेच्य उपन्यास आधुनिक समाज के विकास संबंधी मॉडल को स्वीकार नहीं करता है। यह विकास और प्रगति किसके लिए हैं और किस कीमत पर किया जा रहा है। विकास के नाम पर क्यों जनजातियों को उनके भूगोल और इतिहास से वंचित किया जाता है आदि अनेक सवालों से यह उपन्यास बार-बार टकराता है। चूँकि लेखक मूलतः कवि है, इसलिए उपन्यास की भाषा काव्य-भाषा के अत्यंत करीब है किन्तु इससे उपन्यास के भाव एवं विचार को समझने में कोई बाधा नहीं आती है।

---

24 देबबर्मा, नन्दकुमारः रुङ, पृ. 47

25 वही, पृ. 48

# गारो जनजाति का सांस्कृतिक-सामाजिक जीवन

**कीर्ति उपाध्याय**

समाज संस्कृति का एक महत्वपूर्ण घटक के रूप में कार्य करता है। ये दोनों एक दूसरे के परिपूरक हैं। मनुष्य के मानसिक क्षेत्र की प्रगति के लिए संस्कृति अहम भूमिका निभाती है। किसी समाज की गहराई तक व्याप्त गुण, उस समाज की जीवन पद्धति, सोच-विचार के तरीके, कार्य करने के तरीके, नवीन अनुसंधान, आविष्कार, प्रयोग आदि समग्र रूप का नाम संस्कृति है। इस प्रकार संस्कृति में समाज के अनेक पहलू शामिल रहते हैंः भाषा, मूल्य, रीति-रिवाज, उत्पाद-उपकरण, धर्म, नियम आदि।सामाजिक प्राणी के रूप में मनुष्य के मानवीय विकास की परंपरा निरंतर चलती रहती है। उपभोगवाद पर आधारित इस आधुनिक युग में आदिम इतिहास, आदिम जनजाति आदि का अध्ययन आज के समाज का कर्तव्य है। विविधता में एकता को उपस्थापित करनेवाला हमारा भारतीय समाज अनेकानेक जनजातियों के सांस्कृतिक धरोहर के रूप में आज विश्वप्रसिद्ध है। आधुनिकता की चकाचौंध से दूर इन आदिम जनजातियों का जीवन केवल जंगलों के मदमस्त वातावरण के इर्दगिर्द घूमता है। वर्तमान समय में समाज का ही दायित्व बनता है कि समाज के प्रत्येक प्राणी को सुख-समृद्धि के साथ जीवन-यापन का अवसर प्राप्त हो पाए। देश के सर्वांगीण विकास के लिए प्रत्येक समुदाय का सहयोग अनिवार्य है। किसी एक भी समुदाय का पिछड़कर रह जाना पूरे देश के पिछड़ जाने के बराबर है। अतः वर्तमान परिवेश में हरेक समुदाय तथा प्रत्येक जनजाति के बारे में, उनके रहन-सहन, खान-पान, साहित्य-संस्कृति, धर्म-मान्यताएँ आदि के बारे में जानना हमाराकर्तव्य बन जाता है।

सभ्य होने के पूर्व अर्थात् सृष्टि के आरंभिक दौर में मनुष्य अपना जीवन अत्यंत सहज-सरल और स्वाभाविक तरीके से प्रकृति की गोद में निर्वाह करता था। बाह्य आडंबर तथा कृत्रिमता से दूर उसका रहन-सहन, खान-पान, आचार-विचार आदि में भी प्रकृति के समान निःस्वार्थता झलकती थी। उस समय मनुष्य का जीवन अपनी बुनियादी आवश्यकताओं एवं परंपराओं को विकसित करने के लिए समर्पित था। अपने अस्तित्व अस्मिता की रक्षा के साथ साथ अनुभव से प्राप्त ज्ञान, उनके विश्वास, उनकी

मान्यताएँ, आदर्श भावनाएँ आदि को पीढ़ी-दर-पीढ़ी हस्तांतरित करना चुनौतीपूर्ण कार्यसाबित होने लगी। तब शायद कहीं जाकर 'लोकसाहित्य' का निर्माण हुआ। अर्थात् आदिम जीवन को लोकसाहित्य की आधार भूमि और आरंभिक काल को इसकी पृष्ठभूमि के रूप में ग्रहण करना सर्वथा उचित है। अतः लोकसाहित्य को समझने से पूर्व 'लोक' की अवधारणा को समझना अधिक आवश्यक जान पड़ता है। पाण्डित्य चेतना, अभिजात्य संस्कार, अहंकार, शास्त्रीयता आदि से कोसों दूर मनुष्य का वह वर्ग जो केवल सामाजिक परंपरा के प्रवाह में जीवन-यापन करता है, वह 'लोक' की श्रेणी में आता है।इसी 'लोक' की प्रवृत्ति, उसकी अलिखित परंपरा, अनभिज्ञ तथा अनगढ़ साहित्यिक संस्कार, उसकी अभिव्यक्तिलोक तत्व के माध्यम से होती है।सामान्य प्रयोग में 'लोकवार्ता' इस प्रकार की सभ्यता के लिए प्रयोग में आता रहा। जन-जीवन के प्रत्येक वर्ग, काल, अवस्था, प्रकृति आदि को लोकसाहित्य अपने में समाहित किए होता है।

लोकसाहित्य से तात्पर्य उसी साहित्य से है जिसकी रचना एक जनसमूह द्वारा की जाती है। साधारण जन की भावनाएँ-हर्ष, विषाद, प्रेम, विराग आदि को सामूहिक कथा, संगीत, गीत, नाट्य, गाथा आदि के द्वारा मौखिक रूप से व्यक्त करना, इसकी अन्यतम प्रवृत्ति रही है। सहज भाषा में कहें तो लोकसाहित्य लोकसंस्कृति का प्रौढ़ रूप है। इसका निर्माण लोकबोली में होता है। लोकसाहित्य के मुख्यतः चार भेद होते हैं-लोककथा, लोकगाथा, लोकगीत, लोकनाट्य। आज के युग में लोकसाहित्य केवल काव्य या गीतों तक ही सीमित नहीं है। बल्कि जनसाधारण के जीवन का अपूर्ण अंग बन गया है। परंपरा, संस्कृति, धर्म आदि से जुड़ा यह साहित्य किसी भी समाज, देश व जाति की उन्नति के लिए कई बिंदुओं से महत्वपूर्ण साबित हुआ है। इतिहास की पर्याप्त सामग्री हमें लोकसाहित्य से ही उपलब्ध है। स्थानीय इतिहास की पुट, उसकी सम्पूर्ण जानकारी वहाँ की लोकगाथाओं, गीतों, नाटकों के माध्यम से अनायास प्राप्त की जा सकती है। सामाजिक व्यवस्था के साथ भी इसका संबंध काफी गहरा है। जन साधारण के जीवन से जुड़े हर पहलुओं का उपज समाज होता है।मनुष्य के जन्म से लेकर मृत्यु तक के संस्कार, प्रथाएँ-मान्यताएँ आदि की उत्पत्ति भी समाज में ही होती है। पुराने लोकोक्तियों, लोककथाओं, लोकगीतों के द्वारा आज की नई पीढ़ी अतीत के भारतीय समाज के ढाँचे का अनुमान लगा सकती है। परिवार, विवाह व्यवस्था, रिश्तेदारी, सामाजिक मूल्य आदि की जीवंत प्रस्तुति लोक साहित्य के सामाजिक महत्व को बढ़ावा देने में मददगार साबित हुई है। लोकसाहित्य को वैदिक साहित्य के समकक्ष ही स्थान प्राप्त है। समाज में पनपनेवाली धार्मिक तथा नैतिक भावनाएँ आलोच्य साहित्य या फिर लोकाचार पर ही आधारित है। ज्ञान एवं नीति आधारित विषय की भरमार भी इस साहित्य में देखने को मिलती है। दादा-दादी, माता-पिता, आस-पड़ोस के लोगों द्वारा मनोविनोद के ढंग से बाल सुलभ शिक्षा तथा नीतिपरक ज्ञान देने का चलन आज भी समाज में प्रचलित है। खासकर लड़कियों के लिए लोकसाहित्य अतीत से ही बड़ा उपयोगी रहा है। कौटुंबिक

के साथ-साथ सामाजिक शिक्षा उन्हें इसी से प्राप्त होती आयी है।

मानवता के शुरुआती दौर से ही अस्तित्व में आनेवाले संबंधित व्यक्तियों का वह समूह जो अपने सीमित समाज में एकसाथ रहते हुए एक समान वंश, भाषा, संस्कृति, इतिहास, परंपरा आदि साँझा करता है, 'जनजाति' कहलाता है। इसकी सटीक परिभाषा अत्यंत विवादास्पद होने के कारण जनजाति के लिए कोई सर्वसन्मत या विशिष्ट परिभाषा नहीं दी जा सकती। विभिन्न विद्वानों ने इस शब्द के अनेक पर्याय माने हैं। वनवासी, आदिवासी, वन्यजाति, आदिम जाति, असभ्य, असाक्षर आदि नाम उन्हें पर्याय के रूप में ही प्राप्त हुए हैं। इन सभी के अर्थ पर विचार करें तो ये सभी शब्द प्रायः एक ही अर्थ को बतलाने वाले हैं। इनमें से 'जनजाति' के कुछ पर्याय ऐसे हैं जो आज के समय में पूर्णतया अव्यवहारिक और अनुचित से प्रतीत होते हैं। अतः इनके लिए 'जनजाति' या फिर 'अनुसूचित जाति' नाम ही सर्वाधिक अर्थसंगत है। यह ऐसे समूह हैं जिनका एक सामान्य पूर्वज रहता है और वे अपने संलघ्न समाज में उन पूर्वजों के नियमों और जीवनशैली का पालन करते हुए रहते हैं। भौगोलिक विभाजन के अनुसार हमारे देश भारतवर्ष में जनजातियों को पाँच भागों में विभाजित किया गया है-पूर्वोत्तर क्षेत्र, मध्यक्षेत्र, दक्षिण क्षेत्र, पश्चिम क्षेत्र और द्वीप समूह क्षेत्र। इनमें से प्रस्तुत अध्याय में पूर्वोत्तर की जनजातियों की चर्चा की जा रही है।पूर्वोत्तर क्षेत्र से आशय भारत के सर्वाधिक पूर्वी क्षेत्र असम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मिजोरम, मणिपुर, त्रिपुरा, नागालैंड और सिक्किम से है। इन सभी राज्यों की अपनी अनूठी संस्कृति और इतिहास रही है। भारत के लिए सांस्कृतिक संग्रहालय के रूप में कार्यरत यह पूर्वोत्तर क्षेत्र विभिन्न जनजातियों और समुदायों की भूमि है। उनमें से मिसिंग, बड़ो, डिमासा, गारो, कार्बी, कुकी, खासी, मिजो, नागा, राभा, तिवा, देवरी, जयंतिया, न्यीशी, गालो, मेम्बा, अंगामी, खम्ती, रेंगमा, लोथा आदि अन्यतम हैं। विविधता में एकता को दर्शानेवाली इन स्वदेशी जनजातियों की समृद्ध और जीवंत परम्पराएँ, संस्कृति, धार्मिक प्रथाएँ आदि केवल क्षेत्र विशेष का ही नहीं बल्कि सम्पूर्ण भारतवर्ष की समृद्धि का प्रतीक है। उल्लेखित सभी जनजातियों के मध्य हम 'गारो' जनजाति की सामाजिकता और सांस्कृतिकता पर विचार करेंगे।

**उत्पत्ति एवं परिचय**-किम्बदंती के अनुसार मूल रूप से तिब्बत के टोरूआ प्रांत के निवासी 'गारो' सुदूर अतीत में किसी कारणवश जाप्पा-जालिम्पा और सुक्पा-बोंगेपा के नेतृत्व में तिब्बत छोड़ पूर्वोत्तर भारत की ओर बढ़ गए थे। आरंभ में एक स्थायी घर की तलाश में वे कई समय तक असम के ब्रह्मपुत्र की घाटियों में भटकते रहे। परंतु उन घाटियों पर शासनरत राजाओं के हाथों युद्ध और उत्पीड़न की कठिनाइयों से बचने के लिए उन्हें कई उप-जातियों में विभाजित होना पड़ा। अंत में उनमें से मुख्य समूह ने अपनी जनजाति के तत्कालीन महान नेता अंलोंग नोगा के नेतृत्व में मेघालय के गारो हिल्स की सबसे ऊँची चोटी 'नोकरेक' को अपना मूल निवास स्थान बनाया। तिब्बती-वर्मी भाषा बोलनेवाली यह जनजाति जातीय दृष्टि से मंगोलॉयड नस्लीय समूह के

अंतर्गत आती है। इस प्रकार तिब्बत से पूर्वी भारत और वर्मा होते हुए 'गारो' समुदाय अंततोगत्वा पूर्वोत्तर भारत के मेघालय की पहाड़ियों में आकार रहने लगे।गारो हिल्स में निवास कर रहे इस नस्ल को 'अचिक'(A'chik) कहा जाता है। नस्ल के विभाजन के बाद इनके विभिन्न समूहों के लिए भिन्न भिन्न उपाधि दिए गए। 'अचिक' उपाधि केवल गारो हिल्स ही नहीं बल्कि असम, त्रिपुरा, नागालैंड, मिजोरम तथा बांग्लादेश में मैमनसिंग के पड़ोसी स्थानों पर बिखरे गारो के समूहों पर भी लागू होता है। इन समूहों में-अम्बेग, माची, अकावे (आवे), गारा-गंचिंग, चिबोक, अटोंग, रुगा आदि अन्यतम हैं। इस प्रकार के प्रत्येक समूहों की सामाजिक तथा राजनैतिक व्यवस्था, संस्थाएँ, धर्म-विश्वास, विवाह प्रथा, संपत्ति की विरासत आदि विशेषताएँ तो समान ही हैं, फिर भी इन इकाइयों में एक-दूसरे के बीच रहे भिन्नता के कारण इन्होंने प्रत्येक के लिए अपने अलग कार्य प्रणाली विकसित किए हैं। बोलियों से लेकर पारंपरिक नृत्य-गीत, धार्मिक कार्य, समारोह आदि में यह अलगाव या भिन्नता परिलक्षित होती आयी है।

**पारिवारिक संरचना**-अपनी पारंपरिक सामाजिक परिषद में रहनेवाली 'गारो' संसार की उन चुनिंदा जनजातियों में से एक है जो आज भी अपनी सभी विशेषताओं के साथ मातृमूलक परिवार या मातृवंश को अपनाता है। पति-पत्नी और बच्चों से मिलकर गठित परिवार के सरल स्वरूप में उत्तराधिकारिणी आमतौर पर घर की सबसे छोटी बेटी होती है, जिसे नोकना कहा जाता है। विवाह होने पर वह अपने घर में ही रहती है। अतः उसकी शादी के साथ ही परिवार बढ़ता है और परिवार की अधिकांश संपत्ति उसको दी जाती है। अन्य बेटियाँ शादी के पश्चात् अपने पति के साथ एक नया स्वतंत्र परिवार का निर्माण करती है। 'चची' नामक कुलों में संगठित इस जनजाति को 'माचोंग' उपकुलों में विभाजित किया गया है। सभी के पास एक वर्गीकृत रिश्तेदारी शब्दावली रहती है। अपने रिश्तेदारों के साथ ही (सामान्यतः बुआ की लड़की के साथ) विवाह करने का प्रचलन भले ही इस जनजाति के लोगों में दिखाई देता हो पर सख्त बहिर्विवाह का पालन करते हुए ये एक ही गोत्र के भीतर विवाह को प्रतिबंधित करते हैं।

**आजीविका**-जीवन निर्वाह के लिए कुछ पैटर्न अपनाएजाते हैं जिनके जरिए मनुष्य को जीवित रहने के लिए जरूरी सेवाएँ या फिर वस्तुएँ उपलब्ध होती है। यह निर्वाह मोड समाज की अर्थ व्यवस्था, सामाजिक संरचना आदि को आकार देने में मददगार साबित होती है। अन्य जनजातियों की तरह 'गारो' समूह का भी आर्थिक जीवन भौगोलिक परिवेश द्वारा निर्धारित होता है। वनों पर निर्भर रहनेवाली यह जनजाति पहले तो जंगल के कंदमूल, शहद, वनौषधि आदि से ही अपना काम चला लेती थी। फिर ये समय के साथ खेती के लिए जमीन तैयार कर उसमें धान, मक्का, आलूतथा अन्य सब्जियाँ उगाने लगे। इनके द्वारा की जाने वाली कृषि में स्थायी और स्थानांतरित दोनों ही शामिल है।जब कृषि को इस समूह ने प्राथमिक आजीविका के रूप में अपनाया, तब झूम पद्धति से की गई खेती से उत्पन्न विभिन्न उत्पादों को हाट-बाजार में बेचकर उसके बदले अपनी

जरूरतों की चीजें लाने लगे। कुछ हद तक ये जनजाति वृक्षों पर भी निर्भर रहती है।जंगल से बाँस, फूँस आदि लाकर ये अपने घर का निर्माण करते हैं।इसके अलावा मछली का शिकार उनका अन्यतम एवं प्रिय जीवन निर्वाह का साधन है। अधिकतर लोग पशु पालन में भी संलघ्न रहते हैं। लेकिन आज के इस विकसित दौर में समाज के काम काज के तरीकों में बदलाव हो रहा है। मानव इतिहास में हो रहे जीवन शैली के बदलाव का ही यह नतीजा है जिसके फलस्वरूप समाज के प्रत्येक मनुष्य के जीवन निर्वाह के पैटर्न में भी बदलाव नजर आ रहा है। जिसका प्रभाव इस समूह में भी पड़ना लाज़मी है। आज ये लोग केवल शिकार, कृषि आदि पर ही सीमित न रहकर काई दिशा में अपने को आगे बढ़ाने में तथा आज के समाज और अर्थ व्यवस्था के साथ कंधे से कंधा मिलाकर चलने में सफल हुए हैं।

**धर्म और मान्यताएँ**-सन् 1878 के आसपास अमेरिकी बैपटिस्टों ने गारो हिल्स तथा अन्य स्थानों पर ईसाई कार्य शुरू कर दिया था। मैदानी इलाकों में यह कार्य रोमान कैथलिकों द्वारा 1931-32 के आसपास शुरू हुआ। इसके पहले गारो जनजाति में 'सोंगसारेक' धर्म की मान्यताएँ प्रमुख थी। परंतु 1961-71 के बीच इन लोगों की संख्या में गिरावट आयी जिसका प्रमुख कारण ईसाई धर्म के प्रचार को माना जाता है। सोंगसारेक तथा ईसाई इन्हीं दो धर्मों या विश्वासों को माननेवाले इस जनजाति की अधिकांशतः धार्मिक प्रथाएँ एवं मान्यताएँ प्रकृति से संबंधित हैं। वे 'तातारा-रबुगा' को अपने देवता के रूप में स्वीकार कर दुनिया के निर्माण का श्रेय उन्हीं को देते हैं। इन देवता के लिए बलि प्रथा का आयोजन किया जाता है। इसके अलावा सालजोंग, चोराबुडी आदि सौम्य देवता को गारो लोग मानवजाति के लिए उपहारों का श्रोत मानते हैं। उनकी मान्यता के अनुसार उनके द्वारा उगाए गए फसलों के रक्षक चोराबुडी हैं। अतः खेतों कर सर्वप्रथम फल-फसल उन्हीं को अर्पित किए जाते हैं। तातारा-रबुगा को दी जानेवाली बलि के दौरान इनके लिए भी सूअर की बलि दी जाती है। प्रकृति के करीब रहनेवाली यह जनजाति आत्माओं की उपस्थिति को मानते हुए वे अपने निकटतम दुनिया में उन आत्माओं को रखते थे। इन्हें 'माइट' कहा जाता है। यह जरूरी नहीं कि सभी आत्माएँ अच्छी हो। इनमें से कुछ ऐसी भी थी जो किसी भी तरह की चूक के लिए इंसानों को नुकसान पहुँचाया करती थी। अतः सभी धार्मिक समारोहों में अवसरों की माँग के अनुरूप आत्माओं की शांति के लिए बलि देना आवश्यक था। इसके अलावा उनका मानना था कि जन्म, विवाह, मृत्यु, आपदा, बीमारी, समुदाय के कल्याण, विनाश से सुरक्षा, अच्छी फसल आदि के लिए भी बलि दी जानी चाहिए। दिवंगत आत्माओं को भोजन देकर और स्मारक पत्थर लगाकर पूर्वजों के प्रति श्रद्धा जाहिर करने का नियम हिन्दू के समकक्ष ही प्रतीत होता है। सोंगसारेक धर्मावलम्बी लोग पूर्वजन्म में विश्वास रखते हैं। गारो लोग अपनी मूल परिवार इकाई या मोचांग में एक इंसान के रूप में पुनर्जन्म लेने को सबसे बड़ा आशीर्वाद मानते हैं।

**सांस्कृतिक परंपराएँ**-अधिकांश गारो लोग सहज-सरल, सीधी-सादी जीवन शैली से संतुष्ट हैं। अतः विशेष रूप से वे ग्रामीण क्षेत्र को अपने निवास स्थान के रूप में चुनाव करते हैं। पारंपरिक त्यौहार, नृत्य आदि को समेटे हुए इनकी एक समृद्ध सांस्कृतिक विरासत है। संगठित इकाई में रहनेवाले इस जनजाति के नियमित उत्सव प्रायः कृषि के साथ जुड़े होते हैं। इनका सबसे महत्वपूर्ण त्यौहार हैं 'आगलमाका' और 'वंगाला'। 'आगलमाका' फसल की सींचाई से पहले मनाया जानेवाला पर्व है। फसल कटने के बाद अपने इष्ट देव को धन्यवाद ज्ञापन के निमित्त 'वंगाला' का आयोजन किया जाता है। मानव जाति को प्रकृति के उपहार प्रदान करनेवाले देवता 'सालजोंग' के सम्मान में किए जानेवाले इस त्यौहार के माध्यम से यह जाति अपनी समृद्धि सुनिश्चित करते हैं। भले ही इस उत्सव को मनाने की कोई निश्चित तिथि नहीं है। लेकिन आम तौर पर अक्टूबर के महीने में मनाया जाता है। उत्सव के कई दिनों पहले से ही उसके लिए तैयारियाँ शुरू हो जाती है। इसमें भी सबसे पहले खान-पान की चीजें इकट्ठा की जाती है। गाँव का 'नोकमा' त्यौहार को सुचारु रूप से सम्पन्न करने के लिए प्रयोजनीय सारी व्यवस्थाएँ देखने की जिम्मेदारी लेता है। विभिन्न प्रकार के पकवानों, देसी पन्य (शराब) आदि के साथ साथ उत्सव का चरमोत्कर्ष रंग-बिरंगे वंगाला नृत्य से होता है, जिसमें गाँव के पुरुष-महिलाएँ अपने जातीय वेश-भूषा में ढोल, घंटियाँ तथा सींग द्वारा निर्मित वाद्य की लयबद्ध थाप में नृत्य करते हैं। महिला और पुरुष अपनी अलग-अलग कतार बनाते हैं और दोनों समूह नृत्य प्रदर्शन करते हुए समानांतर पंक्तियों में आगे बढ़ते हैं। इस जनजाति के लिए त्यौहार में खेले जाने के लिए कोई संगठित खेल नहीं है। लेकिन इसका यह अर्थ बिल्कुल नहीं है कि उनके पास मनोरंजन के लिए कोई साधन नहीं है। कभी-कभार शक्ति परीक्षण तथा अन्य प्रतियोगिताओं का आयोजन किया जाता है। इसके अलावा 'नोकपेंटेस' यानि युवा या बैचलर्स डॉरमेट्री के सदस्य 'वा'पोंग सिका' जैसी प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए खुद को समूहों में संगठित करते हैं। यह रस्साकस्सी के अनुरूप ही प्रतियोगी टीमों के बीच का खेल है।इसमें रस्सी के स्थान पर एक बाँस का खंभा होता है जिसे खींचने के बजाय युवा जोर लगाकर अपने विरोधी टीम को चिह्नित रेखा से बाहर करने की कोशिश करते हैं।

**पोशाक एवं साज-सज्जा और खान-पानः** गहरे रंग के कपड़े पहनना इस जनजाति की खासियत है। काला, गहरा नीला आदि रंगोन को पुरुष-महिला दोनों ही अधिक महत्व देते दिखाई पड़ते हैं। बहुत ज्यादा आभूषण पहनने की विशेषता गारो में नहीं पाई जाती। आम तौर पर पुरुष-महिला दोनों ही मोतियों की माला और झुमके पहनते हैं। पगड़ी इस जनजाति के पुरुष-महिला दोनों के द्वारा पहनी जा सकती है। परंतु आज के आधुनिकता से सम्पन्न युग में इस जनजाति के पहनावे पर परिवर्तन आ गया है। पुरुष पारंपरिक लंगोटी के बजाय शॉर्ट्स पहनना पसंद करने लगे हैं। परिवार के सभी लोग त्यौहारों के मौकों पर नए नए परंपरागत पोशाक पहनते हैं, परंपरागत भोजन की व्यवस्था

होती है। वे लोग मसालेदार खाने के विपरीत सादा तथा उबला हुआ खाना पसंद करते हैं। जंगल में उपलब्ध विभिन्न औषधि गुणयुक्त पत्तों के साथ साथ मछली, मांस, सूअर आदि इनका प्रमुख आहार है। गारो तथा अधिकांश उत्तर-पूर्वी पहाड़ी जनजातियाँ चावल को सड़ाकर बनाए जाने वाले पेय का पान बड़े चाव से करते हैं। जब कभी चावल की खेती में कमी होती है या जिन क्षेत्रों में चावल की पैदावार काम है, वहाँ बाजरे को वे अपने रोजमर्रा के भोजन के रूप में ग्रहण करते हैं।

**निष्कर्ष:** जिस प्रकार एक व्यक्ति का कार्य उसे समाज में स्थान, प्रतिष्ठा प्रदान करता है, उसी प्रकार किसी भी जाति की उन्नति तथा उसकी पहचान समाज में उसकी भूमिका, उसके द्वारा किए गए विशिष्ट कार्य आदि पर निर्भर रहती है। कहना गलत न होगा कि प्रागैतिहासिक काल से ही भारत में निवास करती आ रही गारो जनजाति समय के साथ साथ उन्नति और प्रगति के शिखर को हासिल करने में सफल हुई है। पहले यह जनजाति अपने आप में ही समृद्ध थी। परंतु वर्तमान काल में यह सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक, शैक्षणिक, राजनैतिक आदि सभी दिशाओं में उन्नत हो रही है।

## संदर्भ ग्रंथ-


1. एस.एच.एम. रिज़्वी, शिवानी रॉय, गारो (अचिक) ट्राइब ऑफ मेघालय, बी.आर.पब्लिशिंग कॉर्पोरेशन, दिल्ली, सं.2006
2. कृष्णदेव उपाध्याय, लोक संस्कृति की रूपरेखा, लोकभारती प्रकाशन, सं.2009
3. डॉ. अल्पना सिंह, डॉ. अशोक मर्डे, लोक संस्कृति एवं साहित्य का वर्तमान स्वरूप, हिंदी बुक सेंटर, नई दिल्ली, सं.2014
4. डॉ. पुखराज जैन, भारत की सांस्कृतिक विरासत, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा, सं.2023
5. डॉ. राजेश्वर प्रसाद चतुर्वेदी, श्रीराम शर्मा, लोक साहित्य के सिद्धांत एवं परंपरा, साहित्य सरोवर, औरंगाबाद, सं.2020
6. डॉ. श्रीनाथ शर्मा, जनजातीय समाजशास्त्र, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल, सं.2016
7. प्रमोद नाथ, गारो समाज ओ संस्कृति, सोपान प्रकाशन, सं.2024
8. मिल्टन एस सांगमा, हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ द गारोज, बुक्स टूडै पब्लिकैशन, नई दिल्ली, सं.1981
9. वीरेंद्र परमार, मेघालय लोकजीवन और संस्कृति, हिंदी बुक सेंटर, नई दिल्ली, सं.2021

# अरुणाचल प्रदेश में शिक्षाः विकास, चुनौतियाँ और भविष्य की दिशा

**डॉ. जोराम आनिया**

**परिचय** : अरुणाचल प्रदेश, जिसे पहले नॉर्थ ईस्ट फ्रंटियर एजेंसी (NEFA) के नाम से जाना जाता था, मूल रूप से गृह मंत्रालय के प्रत्यक्ष नियंत्रण में था और 1972 तक संवैधानिक रूप से असम का हिस्सा था। 1971 के 27वें संविधान संशोधन अधिनियम के तहत इसे केंद्र शासित प्रदेश के रूप में पुनर्गठित किया गया और इसका नाम अरुणाचल प्रदेश रखा गया। इसके बाद 1975 में 37वें संविधान संशोधन अधिनियम के अंतर्गत प्रदेश परिषद का गठन एक स्वतंत्र विधान सभा के रूप में हुआ, और उपराज्यपाल को इसका प्रमुख नियुक्त किया गया। प्रारंभिक 23 सदस्यीय प्रदेश परिषद को अस्थायी विधान सभा के रूप में स्थापित किया गया। 4 मार्च 1978 को 33 सदस्यीय (30 निर्वाचित और 3 नामित) पहली निर्वाचित विधान सभा बनी, जो लगभग 20 महीने तक चली। नवंबर 1979 में इसे भंग कर राष्ट्रपति शासन लागू किया गया, जो जनवरी 1980 तक रहा। दूसरा सामान्य चुनाव जनवरी 1980 में और तीसरा दिसंबर 1984 में हुआ, जिसमें विधान सभा जनवरी 1986 तक कार्यरत रही। 55वें संविधान संशोधन अधिनियम, 1986 और ₹अरुणाचल प्रदेश राज्य अधिनियम, 1986₹ के तहत फरवरी 1987 में अरुणाचल प्रदेश भारत का 24वां राज्य बना, जिसमें 60 सदस्यीय विधान सभा थी और ईटानगर को इसकी राजधानी घोषित किया गया।

अरुणाचल प्रदेश की जनसंख्या मुख्य रूप से इंडो-मंगोलॉयड नस्लीय समूहों से संबंधित है, जिनकी उत्पत्ति तिब्बत से मानी जाती है। यहाँ की भाषाएँ तिब्बतो-बर्मन समूह से हैं, जो भाषाई विविधता को दर्शाती हैं। 1961 की जनगणना के अनुसार, स्थानीय आदिवासी जनसंख्या राज्य की कुल जनसंख्या का 88.76% है। घोड़ेनुमा आकृति का यह राज्य पूर्वी हिमालय में 2628' से 2930' उत्तरी अक्षांश और 9130' से 9730' पूर्वी देशांतर के बीच स्थित है। इसकी अंतरराष्ट्रीय सीमाएँ भूटान (160 किमी), म्यांमार (440 किमी), और चीन (1030 किमी) के साथ हैं, जबकि दक्षिण में असम से सटी सीमा है। इसका क्षेत्रफल 83,743 वर्ग किलोमीटर और 2011 की जनगणना के अनुसार जनसंख्या 13,83,727 है, जिसका घनत्व 17 व्यक्ति प्रति वर्ग किलोमीटर है। यह

क्षेत्रफल में पूर्वोत्तर भारत का सबसे बड़ा राज्य है, और मैकमोहन रेखा भारत-चीन सीमा को परिभाषित करती है।

राज्य की प्राकृतिक संपदा में समृद्ध वनस्पति और जीव-जंतु शामिल हैं, जिनमें ऑर्किड विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। यहाँ आठ वन्यजीव अभयारण्य, एक ऑर्किड अभयारण्य, और दो राष्ट्रीय उद्यान (नामदाफाः 1985 वर्ग किमी और मौलिंगः 483 वर्ग किमी) हैं, जिनका कुल क्षेत्रफल 9,488.48 वर्ग किलोमीटर है। प्रमुख अभयारण्यों में दयिंग एरिंग, दीबांग, ईगलनेस्ट, कामलांग, कने, मेहाओ, पक्के, ताले, और सैसा ऑर्किड शामिल हैं। अरुणाचल प्रदेश का वन्यजीव संसार समान रूप से समृद्ध और विविध है; यहाँ बाघ, काला तेंदुआ, जंगली हाथी, भौंकने वाला मृग, मस्क मृग, बंदर, जंगली बकरी, और विभिन्न प्रकार के चमगादड़ जैसे उड़ते हुए चमगादड़, फल खाने वाले चमगादड़ आदि विविध वन्यजीव पाए जाते हैं। लगभग 500 प्रकार के ऑर्किड यहाँ की जैव-विविधता को समृद्ध करते हैं। मिथुन (बोस फ्रंटैलिस), जो जंगली और अर्ध-घरेलू दोनों रूपों में पाया जाता है, सामाजिक-सांस्कृतिक जीवन में महत्वपूर्ण है। पारंपरिक रूप से, मिथुन को संपत्ति का एक इकाई माना जाता है और इसे जंगल में स्वतंत्र रूप से घुमने दिया जाता है जब तक कि इसे किसी धार्मिक समारोह, उत्सव या विवाह के मौके पर उपयोग में न लाया जाए।

सामाजिक-धार्मिक संबद्धताओं के आधार पर यहाँ की जनसंख्या को तीन सांस्कृतिक समूहों में वर्गीकृत किया जाता है। तवांग और पश्चिम कमेंग के मोनपा और शेरडुप्पेन महायान बौद्ध धर्म की लामावादी परंपरा का पालन करते हैं। इन समुदायों के गांवों में बौद्ध मंदिर होते हैं, जिन्हें स्थानीय रूप से 'गोंपा' कहा जाता है।

दूसरा समूह आदी, आका, अपातानी, न्यिशी, मिश्मी, सजोलांग, तागिन, और तंग्सा का है, जो दोयनी पोलो धर्म (सूर्य और चंद्र देवता) की पूजा करते हैं। दोयनी पोलो और अबो-तानी इन जातियों के मुख्य पूर्वज हैं।

तीसरा समूह नोकते और डाग्चा का है, जो तिराप जिले में रहते हैं और वैष्णव धर्म के प्रारंभिक रूप का पालन करते हैं। इन समुदायों में पारंपरिक गाँव-बूढ़ा की भूमिका महत्वपूर्ण होती है। आदिवासी समाज में मिथक और कल्पना का प्रभाव स्पष्ट है, जो उनकी रचनात्मकता को दर्शाता है।

अरुणाचल प्रदेश के आदिवासी समाज में गांव-स्तरीय कार्यप्रणाली अत्यंत व्यवस्थित और समानतावादी होती है। समुदाय से संबंधित सभी निर्णय गांव स्तर पर सामूहिक भागीदारी के माध्यम से लिए जाते हैं। सदियों से विकसित यह सामाजिक-प्रशासनिक संरचना लोकतांत्रिक मूल्यों पर आधारित है, जो प्रत्येक व्यक्ति को गांव के मामलों में भाग लेने का अधिकार देती है।

कृषि आधारित त्योहार इस क्षेत्र की संस्कृति का अभिन्न हिस्सा हैं, जिन्हें धार्मिक उत्साह के साथ मनाया जाता है। ये त्योहार प्रायः फसल की प्रचुरता के लिए भगवान को धन्यवाद देने या अच्छी उपज की प्रार्थना करने के लिए आयोजित किए जाते हैं। अधिकांश

त्योहारों में पशुबलि की प्रथा प्रचलित है, सिवाय बौद्ध धर्म के अनुयायियों के।

गांवों में न्याय का संचालन गाँव-बूढ़ा (GB) द्वारा किया जाता है, जिन्हें पारंपरिक रीति-रिवाजों के आधार पर कानून लागू करने का अधिकार प्राप्त है। इस प्रणाली में पेशेवर वकीलों की कोई भूमिका नहीं होती, और न्याय प्रक्रिया पारंपरिक नियमों के अनुसार संचालित होती है। असम फ्रंटियर (न्याय का प्रशासन) नियम, 1945 ने गांव परिषदों को औपचारिक मान्यता प्रदान की, जो गांव के मामलों को नियंत्रित करती हैं। इस प्रकार, अरुणाचल प्रदेश की न्याय प्रणाली परंपरागत कानूनों और गांव परिषदों के नेतृत्व में गोन बुराह तथा बुजुर्गों द्वारा संचालित होती है, जिसमें सरकार का समर्थन भी प्राप्त है।

शिक्षा किसी भी समाज और सभ्यता की प्रगति का आधार होती है। अरुणाचल प्रदेश में, हालांकि शिक्षा का प्रसार देर से शुरू हुआ, इसने समाज के समग्र विकास में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। शिक्षा ने इस क्षेत्र की पिछड़ी अवस्था को प्रगतिशील दिशा में बदलने में अहम भूमिका निभाई है।

2001 की जनगणना के अनुसार, अरुणाचल प्रदेश की साक्षरता दर 54.74% थी, जिसमें महिलाएँ शामिल हैं। लोअर दिबांग घाटी जिला न्यूनतम जनसंख्या वाला है, जबकि लोअर सुबनसिरी जिला अधिक जनसंख्या और तेजी से आधुनिकीकरण के कारण सबसे बड़ा है। 2011 की जनगणना के अनुसार, राज्य की कुल जनसंख्या 13,82,611 है, जो 29 शहरों और 3,863 गांवों में बसी है, जिससे यह भारत के सबसे कम जनसंख्या घनत्व वाले राज्यों में से एक है।

अरुणाचल प्रदेश को 20 फरवरी 1987 को भारत का 24वाँ पूर्ण राज्य का दर्जा मिला, जिसका उद्‌घाटन तत्कालीन प्रधानमंत्री राजीव गांधी ने ईटानगर में किया। इसका नामकरण बिभासु दास शास्त्री (तत्कालीन अनुसंधान निदेशक) और के.ए.ए. राजा (तत्कालीन मुख्य आयुक्त) ने किया। 2024 तक, राज्य में 27 जिले हैं, जिनके नाम मुख्यतः स्थानीय नदियों पर आधारित हैंः अंजाव, बिचुम, चांगलांग, दिबांग वैली, पूर्वी कमेंग, पूर्वी सियांग, क्रा दादी, कुरुंग कुमे, कमले, केयि पान्योर, लोहीत, लोंगडिंग, लोअर दिबांग वैली, लोअर सुबनसिरी, लेपा रादा, नामसाई, पापुम पारे, पक्के-केसांग, शी-योमी, सियांग, तवांग, तिरप, अपर सियांग, अपर सुबनसिरी, अपर दिबांग वैली, पश्चिमी कमेंग, और पश्चिमी सियांग।

## शिक्षा का अर्थ और महत्व

शब्द 'शिक्षा' लैटिन शब्द 'educare' से लिया गया है, जिसका अर्थ है "पालन-पोषण करना" या "बढ़ाना"। पारंपरिक रूप से, शिक्षा को व्यक्ति के व्यवहार को अनुशासित करने की प्रक्रिया माना जाता है। विभिन्न शब्दकोशों और विचारकों ने शिक्षा को निम्नलिखित रूप में परिभाषित किया हैः

कैंब्रिज शब्दकोश ने शिक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया हैः "शिक्षण या अध्ययन की प्रक्रिया, विशेष रूप से स्कूल या कॉलेज में, या वह ज्ञान जो आप प्राप्त करते हैं।"

मेरियम वेब्स्टर शब्दकोश ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया हैः “शिक्षित करने या शिक्षा प्राप्त करने की क्रिया या प्रक्रियाः या ःशिक्षा प्राप्त करने की प्रक्रिया से प्राप्त ज्ञान और विकास।”

कोलिन शब्दकोश ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया हैः “शिक्षा में लोगों को विभिन्न विषयों को सिखाना, आमतौर पर स्कूल या कॉलेज में, या किसी विशेष प्रकार की शिक्षा में जनता को किसी विशेष मुद्दे के बारे में सिखाना शामिल है।”

ऑक्सफोर्ड इंग्लिश शब्दकोश ने इसे इस प्रकार परिभाषित किया हैः “शिक्षण, प्रशिक्षण और अध्ययन की प्रक्रिया, विशेष रूप से स्कूल, कॉलेज या विश्वविद्यालयों में, ताकि ज्ञान में वृद्धि हो और कौशल का विकास हो।”

कौटिल्य ने कहा, “शिक्षा का अर्थ है देश के लिए प्रशिक्षण और राष्ट्र के प्रति प्रेम।”

स्वामी विवेकानंद ने कहा, “शिक्षा वह है जो पहले से ही व्यक्ति में मौजूद पूर्णता का उद्घाटन करती है।”

महात्मा गांधी ने कहा, “शिक्षा से मेरा अर्थ है बच्चे और व्यक्ति के शरीर, मन और आत्मा के सर्वोत्तम रूप को बाहर लाना।”

रवींद्रनाथ ठाकुर ने शिक्षा को इस रूप में प्रकट कियाः “सबसे ऊंची शिक्षा वह है जो केवल हमें जानकारी नहीं देती, बल्कि हमारे जीवन को सम्पूर्ण अस्तित्व के साथ सामंजस्यपूर्ण बनाती है।”

ऋग्वेद में इसे इस प्रकार परिभाषित किया गया है, “शिक्षा वह है जो व्यक्ति को आत्मनिर्भर और निःस्वार्थ बनाती है।” उपनिषदों के अनुसार, “शिक्षा वह है, जिसका अंतिम परिणाम मोक्ष है।”

अतः शिक्षा एक ऐसी प्रक्रिया है, जो शिक्षण-सीखने के माध्यम से ज्ञान और कौशल के अर्जन को बढ़ावा देती है, जिसका लक्ष्य व्यक्ति को पूर्णता की ओर ले जाना है। यह प्रक्रिया औपचारिक (स्कूल, कॉलेज) और अनौपचारिक (मार्गदर्शन, परामर्श) दोनों तरीकों से संचालित होती है। शिक्षा केवल औपचारिक शिक्षण तक सीमित नहीं है; इसमें प्रशिक्षण, कौशल विकास, और विविध शिक्षण विधियाँ शामिल हैं।

इसके अतिरिक्त, शिक्षा ज्ञान के प्रभावी हस्तांतरण के लिए मार्गदर्शन, प्रेरणा, और प्रतिभा को सही दिशा में प्रोत्साहन देने जैसे तत्वों को समाहित करती है। शैक्षिक संस्थानों में सह-पाठ्यक्रम गतिविधियाँ, जैसे संगीत, नाटक, खेल, बहस, साहित्यिक और सांस्कृतिक कार्यक्रम, भी शिक्षा का अभिन्न अंग हैं, जो व्यक्ति के समग्र विकास में योगदान देते हैं।

## अरुणाचल प्रदेश में स्कूल शिक्षा का परिदृश्य

2011 की जनगणना के अनुसार अरुणाचल प्रदेश की औसत साक्षरता दर 65.4% थी। इसी अवधि में लोअर सुबनसिरी जिले की साक्षरता दर 70.3% रही, जबकि क्रा दादी और कुरुंग कुमे जिलों की साक्षरता दर क्रमशः 44% और 48.8% दर्ज की गई।

यूनिफाइड डिस्ट्रिक्ट इन्फॉर्मेशन सिस्टम फॉर एजुकेशन (UDISE) की 2014-2015 की रिपोर्ट में राज्य की साक्षरता दर 65.38% बताई गई है।

1947 में देश की स्वतंत्रता के समय, पूरे उत्तर-पूर्व सीमांत क्षेत्र (NEFA) में साक्षरता दर 1 प्रतिशत से भी कम थी और केवल एक उच्चतर माध्यमिक विद्यालय इंडिपेंडेंट गोल्डन जुबली उच्चतर माध्यमिक विद्यालय, पासीघाट के रूप में कार्यरत था, जिसकी स्थापना 1947 में की गई थी। इससे पहले, पूर्वी सियांग जिले के पासीघाट में 1918 में राज्य का पहला विद्यालय स्थापित हुआ था। सरकारी अभिलेखों के अनुसार, 1953 तक राज्य में केवल 67 निम्न प्राथमिक विद्यालय और एक मध्य विद्यालय था; उस समय न तो कोई उच्चतर माध्यमिक विद्यालय था और न ही कोई महाविद्यालय।

1987 में अरुणाचल प्रदेश को पूर्ण राज्य का दर्जा मिलने के बाद शैक्षिक ढाँचे के विकास में गति आई। इसके पश्चात राज्य में प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा स्तर तक अनेक शैक्षणिक संस्थानों की स्थापना हुई, जिससे न केवल शिक्षा का स्तर बढ़ा, बल्कि विकासात्मक गतिविधियों में भी उल्लेखनीय वृद्धि हुई—यह आधुनिक शिक्षा के प्रभाव का प्रत्यक्ष परिणाम था।

अरुणाचल प्रदेश सरकार के शिक्षा विभाग की 2016 की रिपोर्ट के अनुसार, राज्य में कुल 4,047 विद्यालय कार्यरत थे, जिनमें 2,363 प्राथमिक विद्यालय, 1,266 उच्च प्राथमिक विद्यालय, 263 माध्यमिक विद्यालय और 155 उच्चतर माध्यमिक विद्यालय शामिल थे।

## समग्र शिक्षा अभियान (SSA)/संविलित विद्यालय शिक्षा योजना (ISSE)–

अरुणाचल प्रदेश में समग्र शिक्षा अभियान (SSA), जिसे संविलित विद्यालय शिक्षा योजना (Integrated Scheme for School Education -ISSE) के रूप में भी जाना जाता है, की शुरुआत 1 अप्रैल 2018 को की गई थी। इसका उद्देश्य पूर्व-प्राथमिक से लेकर वरिष्ठ माध्यमिक स्तर तक सभी बच्चों को समावेशी, समान और गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान करना है। यह योजना शिक्षा के लिए सतत विकास लक्ष्य (SDG) के अनुरूप है, जो 2030 तक सभी लड़कों और लड़कियों को निःशुल्क, समान और गुणवत्तापूर्ण प्राथमिक एवं माध्यमिक शिक्षा सुनिश्चित करने की वकालत करता है, ताकि वे प्रासंगिक और प्रभावशाली शिक्षण परिणाम प्राप्त कर सकें।

इस योजना का एक अन्य प्रमुख उद्देश्य सभी बच्चों को गुणवत्तापूर्ण प्रारंभिक बाल्यकाल शिक्षा (ECE), देखभाल और पूर्व-प्राथमिक शिक्षा तक पहुँच सुनिश्चित करना है, ताकि वे प्राथमिक शिक्षा के लिए पूरी तरह से तैयार हो सकें।

SSA / ISSE के प्रमुख घटक इस प्रकार हैं:

सार्वभौमिक पहुँच : जिसमें भौतिक अवसंरचना का विकास एवं संरक्षण शामिल है।

लैंगिक समानता और समावेशी शिक्षा : बालिकाओं, विशेष आवश्यकता वाले बच्चों एवं वंचित वर्गों के लिए विशेष पहलें।

शिक्षकों के वेतन हेतु वित्तीय सहायता।

डिजिटल शिक्षा एवं सूचना प्रौद्योगिकी आधारित पहलें।

शिक्षा का अधिकार (RTE) : जिसमें गणवेश, पाठ्यपुस्तकें, परिवहन आदि की व्यवस्था शामिल है।

पूर्व-प्राथमिक एवं व्यावसायिक शिक्षा।

खेल एवं शारीरिक शिक्षा।

शिक्षक प्रशिक्षण एवं क्षमतावृद्धि।

निगरानी और कार्यक्रम प्रबंधन।

समग्र शिक्षा अभियान की प्रमुख उपलब्धियाँः

मौजूदा विद्यालय परिसरों में 342 प्री-प्राइमरी इकाइयों की स्थापना।

1666 प्राथमिक विद्यालय, 713 उच्च प्राथमिक विद्यालय, 81 माध्यमिक विद्यालय, और 154 आवासीय विद्यालयों का संचालन।

12 सौ-बिस्तरों वाले तथा 42 पचास-बिस्तरों वाले छात्रावासों की स्थापना।

माध्यमिक स्तर पर 4 सौ-बिस्तरों वाले आवासीय छात्रावास क्रियाशील।

48 कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय (KGBV) संचालित किए गए।

मानव संसाधन की नियुक्तियाँ (अब तक):

4602 प्राथमिक शिक्षक,

2248 उच्च प्राथमिक शिक्षक,

34 प्रधानाध्यापक,

433 विषय शिक्षक, जिनमें 81 प्रधानाचार्य और

430 अंशकालिक प्रशिक्षक उच्च प्राथमिक स्तर पर कार्यरत हैं।

यह परियोजना राज्य में विद्यालयी शिक्षा के सर्वांगीण विकास हेतु एक महत्वपूर्ण पहल रही है, जो वर्तमान में सफलता के साथ क्रियान्वित की जा रही है और अरुणाचल प्रदेश के शैक्षिक परिदृश्य को सशक्त बना रही है।

## राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान (RMSA)–

राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान (Rashtriya Madhyamik Shiksha Abhiyan–RMSA) भारत सरकार द्वारा मार्च 2009 में आरंभ की गई एक प्रमुख योजना है, जिसका उद्देश्य माध्यमिक शिक्षा तक पहुँच को विस्तारित करना तथा उसकी गुणवत्ता में सुधार सुनिश्चित करना है।

इस योजना का प्रमुख उद्देश्य यह है कि प्रत्येक विद्यार्थी को उचित दूरी के भीतर एक माध्यमिक विद्यालय सुलभ हो, जिससे माध्यमिक स्तर पर नामांकन दर को बढ़ाया जा सके। योजना विशेष रूप से भौतिक संसाधनों, मानव संसाधनों और गुणवत्तापूर्ण

अधिगम के अवसरों को सुदृढ़ बनाने पर बल देती है।

### RMSA के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार हैं:

हर छात्र के लिए माध्यमिक शिक्षा तक पहुँच सुनिश्चित करना, विशेष रूप से ग्रामीण एवं दूरस्थ क्षेत्रों में। माध्यमिक विद्यालयों की संख्या और पहुँच में वृद्धि करना—यह सुनिश्चित करना किः

- o माध्यमिक विद्यालय 5 किलोमीटर की परिधि में हों।
- o उच्च माध्यमिक विद्यालय 7–10 किलोमीटर की सीमा के भीतर हों।

सुरक्षित परिवहन और आवासीय सुविधाएँ उपलब्ध कराना, विशेषकर दुर्गम क्षेत्रों में।

सभी माध्यमिक विद्यालयों में आवश्यक भौतिक सुविधाओं की उपलब्धता सुनिश्चित करना, जैसेः

- o छात्र-शिक्षक अनुपातः 30:1
- o छात्र-कक्षा अनुपातः 40:1
- o पूरी तरह से सुसज्जित विज्ञान प्रयोगशालाएँ।
- o कंप्यूटर कक्ष और पुस्तकालयों की व्यवस्था।

इस योजना के अंतर्गत विद्यालयों में संसाधनों के उन्नयन, नई कक्षाओं के निर्माण, शिक्षकों की नियुक्ति और तकनीकी अवसंरचना को विकसित करने पर बल दिया गया है। जाहिर है, राज्य में RMSA सक्रिय रूप से और प्रभावी ढंग से क्रियान्वित की जा रही है। इस परियोजना के माध्यम से न केवल विद्यालयों की संख्या में वृद्धि हुई है, बल्कि दूर-दराज़ के क्षेत्रों के छात्रों को भी गुणवत्तापूर्ण माध्यमिक शिक्षा तक पहुँच प्राप्त हुई है। यह योजना राज्य में शिक्षा के सार्वभौमिककरण की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम सिद्ध हो रही है।

### अरुणाचल प्रदेश में उच्च शिक्षा की स्थिति

अरुणाचल प्रदेश में उच्च शिक्षा का विकास अपेक्षाकृत देर से आरंभ हुआ। राज्य का पहला कॉलेज जवाहरलाल नेहरू कॉलेज, पासीघाट 3 जुलाई 1964 को स्थापित हुआ, जो देश के अन्य राज्यों की तुलना में एक विलंबित शुरुआत मानी जाती है।

राज्य में उच्च शिक्षा प्रणाली का संचालन उच्च एवं तकनीकी शिक्षा निदेशालय के अधीन किया जाता है। अरुणाचल प्रदेश राज्य उच्च शिक्षा परिषद (APSHEC) की स्थापना राष्ट्रीय उच्चतर शिक्षा अभियान (RUSA) और प्रधानमंत्री उच्चतर शिक्षा अभियान के अंतर्गत की गई है, जिसका कार्य राज्य में उच्च शिक्षा परियोजनाओं की योजना, निगरानी एवं मूल्यांकन करना है।

तकनीकी शिक्षा को प्रोत्साहित करने हेतु राज्य ने अरुणाचल प्रदेश राज्य तकनीकी शिक्षा परिषद अधिनियम, 2010 पारित किया। इसके अतिरिक्त, RUSA राज्य

परियोजना निदेशालय की स्थापना 2 अगस्त 2014 को की गई, जो RUSA के तहत होने वाली दैनिक गतिविधियों की निगरानी करता है। इस योजना का उद्देश्य उच्च शिक्षा की गुणवत्ता, पहुँच और समानता में सुधार लाना है।

## RUSA परियोजना के प्रमुख उपलब्धियाँ (2022 तक):

7 मॉडल डिग्री कॉलेज स्थापित किए गए।

8 मौजूदा कॉलेजों को गुणवत्ता सुधार हेतु अनुदान प्राप्त हुआ।

2023 तक कुल 75 कॉलेज राज्य में स्थापित हो चुके हैं।

## प्रमुख उच्च शिक्षा संस्थानः

राजीव गांधी विश्वविद्यालय (केंद्रीय विश्वविद्यालय)

उत्तर-पूर्व क्षेत्रीय विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी संस्थान (NERIST)–डीम्ड विश्वविद्यालय

राष्ट्रीय प्रौद्योगिकी संस्थान (NIT)–केंद्रीय संस्थान

अरुणाचल प्रदेश विश्वविद्यालय, पासीघाट–राज्य विश्वविद्यालय

8 निजी विश्वविद्यालय, जो हाल के वर्षों में स्थापित हुए हैं।

अन्य संस्थानः

4 चिकित्सा कॉलेज–हालाँकि और अधिक चिकित्सा संस्थानों की आवश्यकता महसूस की जा रही है।

3 B.Ed. कॉलेज–शिक्षक प्रशिक्षण हेतु कार्यरत।

2 संबद्ध संस्थान, जो बाहरी विश्वविद्यालयों से संबद्ध हैं:

1. कॉलेज ऑफ हॉर्टिकल्चर एंड फॉरेस्ट्री–केंद्रीय कृषि विश्वविद्यालय, इम्फाल से संबद्ध।
2. केंद्रीय हिमालयन सांस्कृतिक अध्ययन संस्थान, तेंगा घाटी–संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी से संबद्ध, तथा भारत सरकार के संस्कृति मंत्रालय द्वारा वित्तपोषित।

निजी शिक्षा संस्थानों की तेज़ी से हो रही स्थापना को नियंत्रित करने हेतु अरुणाचल प्रदेश निजी शैक्षिक संस्थान (नियमन आयोग) अधिनियम, 2017 पारित किया गया। इसके अंतर्गत राज्य में निजी विश्वविद्यालयों और कॉलेजों की निगरानी हेतु दिशा-निर्देश एवं प्रक्रियाएँ निर्धारित की गई हैं।

## अरुणाचल प्रदेश में सामाजिक-धार्मिक सांस्कृतिक शैक्षिक संस्थान

भारत, जो अपने संविधान के अंतर्गत धर्मनिरपेक्षता के सिद्धांत को अपनाता है, विभिन्न धार्मिक और सांस्कृतिक समुदायों को समान अधिकार और स्वतंत्रता प्रदान करता है। इसी परिप्रेक्ष्य में, अरुणाचल प्रदेश में भी विभिन्न धार्मिक सम्प्रदाय सक्रिय रूप से कार्य कर रहे हैं, जिनमें कुछ मिशनरी संगठनों की भूमिका उल्लेखनीय है। ये संगठन स्वदेशी विश्वास प्रणालियों के अनुयायियों के बीच धर्मांतरण की प्रक्रिया से भी जुड़े रहे हैं, जो

समय-समय पर सामाजिक विमर्श का विषय रहा है।

इन धार्मिक संगठनों द्वारा स्थापित शैक्षिक संस्थानों को सामाजिक-धार्मिक सांस्कृतिक शैक्षिक संस्थान कहा जाता है। इन संस्थानों का प्रमुख उद्देश्य केवल औपचारिक शिक्षा प्रदान करना नहीं है, बल्कि वे संरक्षण, प्रचार और सांस्कृतिक हस्तांतरण की भूमिका भी निभाते हैं। ऐसे विद्यालयों और महाविद्यालयों के माध्यम से धार्मिक शिक्षाओं, नैतिक मूल्यों और सांस्कृतिक विरासत को शिक्षा के ढांचे में समाहित किया जाता है।

ये संस्थान अरुणाचल प्रदेश जैसे बहुधार्मिक और बहुजातीय राज्य में शैक्षिक विस्तार के साथ-साथ सांस्कृतिक प्रभाव भी उत्पन्न करते हैं। हालांकि, इनकी भूमिका पर समाज के विभिन्न वर्गों में विविध दृष्टिकोण पाए जाते हैं—कहीं इन्हें शिक्षा-प्रसार के माध्यम के रूप में देखा जाता है, तो कहीं सांस्कृतिक एकरूपता और धार्मिक पहचान के खतरे के रूप में।इस संदर्भ में राज्य में सामाजिक-धार्मिक शैक्षिक संस्थानों की भूमिका को संतुलित दृष्टिकोण से समझने की आवश्यकता है, जिससे शिक्षा और संस्कृति के बीच उचित सामंजस्य बना रहे।

## अरुणाचल प्रदेश में ईसाई मिशनरियों द्वारा स्थापित शैक्षिक संस्थान

अरुणाचल प्रदेश में ईसाई मिशनरियों की भूमिका शैक्षिक क्षेत्र के विकास में उल्लेखनीय रही है। विभिन्न मिशनरी संगठनों ने राज्य में विद्यालयों और महाविद्यालयों की स्थापना के माध्यम से गुणवत्तापूर्ण शिक्षा के प्रसार में योगदान दिया है। इनमें दो प्रमुख उच्च शिक्षण संस्थानों का उल्लेख किया जा सकता हैः

### 1. सेंट क्लेरेट कॉलेज, जीरो (SCCZ)

सेंट क्लेरेट कॉलेज की स्थापना वर्ष 2003 में जीरो, अरुणाचल प्रदेश में की गई थी। यह संस्थान क्लेरेटियन मिशनरियों द्वारा संचालित है, जो एक रोमन कैथोलिक धर्मसंघ है, जिसकी स्थापना सेंट एंथनी मैरी क्लेरेट द्वारा की गई थी।

**कॉलेज में निम्नलिखित पाठ्यक्रम संचालित होते हैंः**

बैचलर ऑफ आर्ट्स (B.A.)
बी.ए. (मास कम्युनिकेशन)
बी.कॉम
विभिन्न प्रमाणपत्र पाठ्यक्रम

यह संस्थान राजीव गांधी केंद्रीय विश्वविद्यालय, ईटानगर से स्थायी रूप से संबद्ध है और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग (UGC) द्वारा मान्यता प्राप्त है। राष्ट्रीय मूल्यांकन एवं प्रत्यायन परिषद (NAAC), बैंगलोर द्वारा इसे "A" ग्रेड प्रदान किया गया है। हाल ही में, UGC ने इसे स्वायत्त महाविद्यालय (Autonomous College) का दर्जा भी

प्रदान किया है, जो इसकी शैक्षिक गुणवत्ता और प्रबंधन क्षमता का परिचायक है।

## 2. डॉन बॉस्को कॉलेज, ईटानगर

इस कॉलेज की स्थापना 2002 में जोलांग, ईटानगर में की गई थी। यह संस्थान राजीव गांधी विश्वविद्यालय से संबद्ध है और सामान्य स्नातक पाठ्यक्रमों (General Degree Courses) का संचालन करता है। डॉन बॉस्को कॉलेज भी एक ईसाई मिशनरी संस्था द्वारा संचालित है और छात्रों को अनुशासनयुक्त, नैतिक मूल्य आधारित शिक्षा प्रदान करता है।

शिक्षा विभाग, अरुणाचल प्रदेश के अभिलेखों के अनुसार, राज्य में विभिन्न ईसाई मिशनरी प्रबंधन समूहों द्वारा संचालित कई विद्यालय और महाविद्यालय सक्रिय रूप से कार्य कर रहे हैं। इन संस्थानों ने दूरदराज के क्षेत्रों में शिक्षा पहुँचाने और सामाजिक-सांस्कृतिक विकास में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई है।

## अरुणाचल प्रदेश में बौद्ध सांस्कृतिक शैक्षिक संस्थान

अरुणाचल प्रदेश के तवांग और पश्चिम कमेंग जैसे जिलों में बौद्ध धर्म की गहरी जड़ें हैं, जिनकी सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक परंपराओं के संरक्षण और संवर्धन हेतु विशेष शैक्षिक संस्थानों की स्थापना की गई है। इन संस्थानों का संचालन गोंपा प्रणाली के अंतर्गत किया जाता है और इनका प्रशासन कर्मिक एवं आध्यात्मिक मामलों विभाग (Department of Karmik and Adhyatmik Affairs – DoKAA) द्वारा किया जाता है। DoKAA, जिसे स्थानीय ₹चोस-रिगिन₹ बोली में जाना जाता है, की स्थापना अरुणाचल प्रदेश सरकार द्वारा 24 अगस्त 2009 की अधिसूचना (No. CA/CND-1/2009) तथा 21 जनवरी 2010 की अधिसूचना (No. GA-08/2010) के माध्यम से की गई थी। इस विभाग की स्थापना का उद्देश्य तवांग और पश्चिम कमेंग जिलों की समृद्ध बौद्ध सांस्कृतिक विरासत का संरक्षण, संवर्धन और प्रचार करना है।

इस विभाग के तहत बौद्ध शैक्षिक संस्थानों की स्थापना की गई है, जो न केवल धार्मिक शिक्षण प्रदान करते हैं, बल्कि भोटी भाषा के माध्यम से पारंपरिक बौद्ध जीवनशैली, दर्शन और सांस्कृतिक मूल्यों की शिक्षा भी देते हैं। वर्तमान में लगभग 200 शिक्षक भोटी भाषा में शिक्षण कार्य कर रहे हैं।

**प्रमुख पहलें:**

भोटी भाषा में शिक्षा प्रदान करने वाले बौद्ध विद्यालयों की स्थापना।

"सोवा-रिग्पा" (पारंपरिक बौद्ध चिकित्सा प्रणाली) का संरक्षण एवं प्रचार।

"त्से" (पारंपरिक बौद्ध ज्योतिष प्रणाली) के अध्ययन को प्रोत्साहन।

बौद्ध कला, दर्शन और संस्कृति का संवर्धन।

इन प्रयासों के माध्यम से बौद्ध सांस्कृतिक शैक्षिक संस्थान न केवल धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा प्रदान कर रहे हैं, बल्कि स्थानीय भाषाई एवं सांस्कृतिक विरासत को जीवित रखने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभा रहे हैं। ये संस्थान अरुणाचल प्रदेश के

बहुल-धार्मिक और बहु-सांस्कृतिक स्वरूप को समृद्ध करते हैं और स्थानीय समुदायों की पहचान को सशक्त बनाते हैं।

अरुणाचल प्रदेश में शैक्षिक विकास में विवेकानंद केंद्र, रामकृष्ण मिशन स्कूल, और अरुणाचल शिक्षा विकास समिति (विद्या भारती) का योगदान

अरुणाचल प्रदेश में शैक्षिक विकास में विवेकानंद केंद्र, रामकृष्ण मिशन स्कूल, और अरुणाचल शिक्षा विकास समिति (AESVS) ने महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इन संगठनों ने न केवल शिक्षा के प्रसार में, बल्कि आदिवासी समुदायों के बीच भारतीय सांस्कृतिक मूल्यों और परंपराओं को बढ़ावा देने में भी अहम भूमिका निभाई है।

## 1. विवेकानंद केंद्र (कन्याकुमारी) का योगदान

विवेकानंद केंद्र, कन्याकुमारी, एक आध्यात्मिक और सेवा-उन्मुख संगठन है, जिसकी स्थापना 1972 में एकनाथजी रानाडे द्वारा स्वामी विवेकानंद के "मानव-निर्माण और राष्ट्र-निर्माण" के दर्शन पर आधारित होकर की गई थी। इसकी शैक्षिक शाखा, विवेकानंद केंद्र विद्यालय अरुणाचल प्रदेश ट्रस्ट (VKVAPT), ने 1977 से अरुणाचल प्रदेश में शैक्षिक गतिविधियाँ शुरू कीं। VKVAPT वर्तमान में 42 विद्यालय संचालित करता है, जो आदिवासी बच्चों को समग्र और राष्ट्रवादी शिक्षा प्रदान करते हैं। इन स्कूलों ने प्रथम पीढ़ी के शिक्षार्थियों को चिकित्सक, इंजीनियर, कलाकार, व्यवसायी, और IAS अधिकारियों जैसे क्षेत्रों में अवसर प्रदान किए हैं। इसके अतिरिक्त, एक बी.एड. कॉलेज, कस्तूरबा गांधी बालिका विद्यालय (KGBV), और एकलव्य मॉडल आवासीय विद्यालय (EMRS) का संचालन भी किया जाता है। ये संस्थान 'ज्ञान-यज्ञ' की अवधारणा पर आधारित हैं, जो स्वामी विवेकानंद के दर्शन "शिक्षा वह है जो व्यक्ति में पहले से मौजूद पूर्णता को प्रकट करती है" को बढ़ावा देते हैं। VKV स्कूल सह-पाठ्यक्रम गतिविधियों जैसे सांस्कृतिक कार्यक्रम, योग, और भारतीय परंपराओं पर आधारित उत्सवों के माध्यम से छात्रों में भारतीय संस्कृति और मूल्यों का समावेश करते हैं। ये गतिविधियाँ विशेष रूप से आदिवासी समुदायों में राष्ट्रीय एकता और सांस्कृतिक जागरूकता को बढ़ावा देती हैं। जाहिर है, VKV ने अरुणाचल प्रदेश के सुदूर क्षेत्रों में शिक्षा की पहुंच बढ़ाई है, जिससे आदिवासी समुदायों में प्रथम पीढ़ी के शिक्षार्थियों की संख्या में वृद्धि हुई। 2015 में, विवेकानंद केंद्र को गांधी शांति पुरस्कार से सम्मानित किया गया, जो शिक्षा, ग्रामीण विकास, और प्राकृतिक संसाधन प्रबंधन में इसके योगदान को दर्शाता है।

## 2. रामकृष्ण मिशन स्कूल का योगदान

रामकृष्ण मिशन, जो श्री रामकृष्ण परमहंस और स्वामी विवेकानंद के आदर्शों पर आधारित है, ने अरुणाचल प्रदेश में शिक्षा के क्षेत्र में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। यह संगठन शिक्षा को "मानव-निर्माण और चरित्र-निर्माण" के साधन के रूप में देखता है। अरुणाचल प्रदेश में रामकृष्ण मिशन द्वारा संचालित स्कूलों में रामकृष्ण मिशन स्कूल, नरोट्टमनगर और

रामकृष्ण मिशन स्कूल, लुमडंग प्रमुख हैं। ये स्कूल CBSE पाठ्यक्रम के साथ-साथ स्वामी विवेकानंद के दर्शन पर आधारित मूल्य-आधारित शिक्षा प्रदान करते हैं। इन स्कूलों में प्राथमिक से उच्चतर माध्यमिक स्तर तक शिक्षा दी जाती है, जिसमें विज्ञान, गणित, और मानविकी जैसे विषय शामिल हैं। रामकृष्ण मिशन स्कूल वेदांत, गीता, उपनिषद, और श्री रामकृष्ण-सारदा देवी की शिक्षाओं को पाठ्यक्रम में शामिल करते हैं, जो छात्रों में नैतिक और आध्यात्मिक मूल्यों का विकास करते हैं। सह-पाठ्यक्रम गतिविधियों जैसे संगीत, नाटक, और खेलकूद के माध्यम से समग्र विकास पर जोर दिया जाता है। इन स्कूलों ने विशेष रूप से आदिवासी और ग्रामीण समुदायों के बच्चों को गुणवत्तापूर्ण शिक्षा प्रदान की है, जिससे सामाजिक-आर्थिक गतिशीलता बढ़ी है। रामाकृष्ण मिशन की शिक्षा प्रणाली ने अरुणाचल के सुदूर क्षेत्रों में शिक्षा की पहुंच को बढ़ाने में मदद की है, विशेष रूप से उन क्षेत्रों में जहाँ सरकारी स्कूलों की सुविधाएँ सीमित हैं।

### 3. अरुणाचल शिक्षा विकास समिति (AESVS) का योगदान

अरुणाचल शिक्षा विकास समिति (AESVS), जो विद्या भारती अखिल भारतीय शिक्षा संस्थान से संबद्ध है, की स्थापना 1994 में हुई थी। यह संगठन स्वामी विवेकानंद के दर्शन से प्रेरित होकर शिक्षा के माध्यम से राष्ट्रीय और सांस्कृतिक मूल्यों को बढ़ावा देता है। AESVS वर्तमान में 27 शैक्षिक संस्थानों का संचालन करता है, जिनमें प्राथमिक से माध्यमिक स्तर तक के स्कूल शामिल हैं। इसके अतिरिक्त, चार गैर-औपचारिक शिक्षण संस्थान ('संस्कार केंद्र') संचालित किए जाते हैं, जो ग्रामीण और आदिवासी समुदायों में शिक्षा और सांस्कृतिक जागरूकता को बढ़ावा देते हैं। AESVS के स्कूल अरुणाचल की पारंपरिक संस्कृति और परंपराओं को सम्मान देते हुए पाठ्यक्रम में स्थानीय भाषाओं, कला, और सांस्कृतिक गतिविधियों को शामिल करते हैं। सह-पाठ्यक्रम गतिविधियाँ जैसे गुरु पूर्णिमा, स्वामी विवेकानंद जयंती, और भारतीय सांस्कृतिक उत्सव छात्रों में राष्ट्रीय गौरव और सांस्कृतिक पहचान को मजबूत करती हैं।

### दोयनी पोलो शिक्षा प्रणाली

अरुणाचल प्रदेश में दोयनी पोलो (सूर्य-चंद्र) धर्म के अनुयायियों के लिए विद्यालयों की स्थापना का आंदोलन 31 दिसंबर 1986 को पासीघाट में स्वर्गीय तालोम रुकबून के नेतृत्व में दोयनी पोलो येलम केबांग के उद्घाटन के साथ प्रारंभ हुआ। इसके बाद प्रदेश भर में आदिवासी अस्मिता और सांस्कृतिक पुनर्जागरण से जुड़े विभिन्न आंदोलनों की शुरुआत हुई।

वर्ष 2015 में दोयनी पोलो धर्म के अनुयायियों के लिए एक सामान्य प्रार्थना केंद्र की स्थापना की गई, जो राज्य के पाँच प्रमुख समुदायों— आदि, अपातानी, गालो, नायाशी और तागिन— के बीच प्रचलित है।

इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम दोयनी पोलो सांस्कृतिक और चैरिटेबल ट्रस्ट

(DPCCT) द्वारा उठाया गया। इस ट्रस्ट ने न्यिशी निड़ुंग मवंगज्वांग रल्लुंग (न्यिशी भाषा अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद) के शैक्षिक प्रकोष्ठ के साथ मिलकर 6 सितंबर 2019 को विधिवत पंजीकरण कराया। इसके परिणामस्वरूप वर्ष 2020 में पूर्व कामेंग जिले के रांग गाँव में पारंपरिक गुरुकुल और आधुनिक शिक्षा प्रणाली का सम्मिलन करते हुए न्युबु न्येगम येरको (गुरुकुल) की स्थापना हुई।

येरको प्रणाली प्राचीन भारतीय गुरुकुल पद्धति पर आधारित पूर्ण आवासीय शिक्षा व्यवस्था है, जिसमें छात्र-शिक्षक एक ही परिसर में रहकर शिक्षण–अधिगम की प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं। इस संस्था का संचालन दोयनी पोलो सांस्कृतिक ट्रस्ट एवं न्यिशी भाषा अनुसंधान परिषद के सहयोग से किया जा रहा है, जबकि इसकी प्रशासनिक देखरेख विवेकानंद केंद्र विद्यालय, कन्याकुमारी द्वारा की जाती है।

यहाँ शिक्षा CBSE पैटर्न और NCERT पाठ्यक्रम के अनुरूप दी जाती है, साथ ही न्यिशी भाषा का शिक्षण न्यिशी भाषा अनुसंधान परिषद द्वारा सुनिश्चित किया जाता है।

**वर्तमान में अरुणाचल प्रदेश में चार येरको संस्थान कार्यरत हैं:**

1. न्युबु न्येगम येरको, रांग (पूर्व कामेंग) – 136 छात्र
2. न्युबु न्येगम येरको, मव्या गाँव (न्यिशी जनजाति) – 64 छात्र
3. मेनजिक मेककॉक येरको, बसर (गालो जनजाति) – 69 छात्र
4. नीलुंग तुंगको येरको, पांगिन (आदि जनजाति) – 49 छात्र

ये सभी संस्थान 2024–2025 शैक्षणिक सत्र तक कक्षा I से V तक की शिक्षा प्रदान कर रहे हैं।

## भविष्य की दिशा

अरुणाचल प्रदेश के समकालीन शैक्षिक परिदृश्य का विश्लेषण करते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि विद्यालय स्तर की शिक्षा को सर्व शिक्षा अभियान (SSA) और राष्ट्रीय माध्यमिक शिक्षा अभियान (RMSA) जैसे योजनाओं से कुछ हद तक सहायता प्राप्त हो रही है। तथापि, विशेषकर ग्रामीण और जनजातीय क्षेत्रों में व्याप्त बुनियादी समस्याओं को ध्यान में रखते हुए वर्तमान शिक्षा प्रणाली में बहुआयामी नीतिगत हस्तक्षेप की आवश्यकता है।

ब्रिटिश शासन काल और स्वतंत्रता-पूर्व युग में, जब अरुणाचल प्रदेश को NEFA (नॉर्थ ईस्ट फ्रंटियर एजेंसी) के नाम से जाना जाता था, उस समय क्षेत्र में विद्यालयों की स्थापना को लेकर गंभीर प्रयास नहीं किए गए। इसके विपरीत, ईसाई मिशनरियों द्वारा संचालित धार्मिक शैक्षिक संस्थानों ने शिक्षा के माध्यम से धर्मांतरण की प्रक्रिया को बल दिया। दूसरी ओर, बौद्ध धर्म और उससे जुड़ी सांस्कृतिक व्यवस्थाएं अपेक्षाकृत रूप से सुरक्षित और संरक्षित रहीं।

हालाँकि, दोयनी पोलो धर्म और उससे जुड़ी सांस्कृतिक परंपराओं के अनुयायी

समुदाय आज भी कई स्तरों पर शैक्षिक और सामाजिक पिछड़ेपन का सामना कर रहे हैं। इसका एक प्रमुख कारण यह है कि स्वयं समुदाय और आंशिक रूप से सरकार भी इन चुनौतियों की गंभीरता को पूर्णतः अनुभव नहीं कर पा रही है।

विशेष रूप से तिराप और चांगलांग बेल्ट तथा तानी बेल्ट (जैसे न्यिशी क्षेत्र) में शैक्षिक व्यवस्था पर्याप्त रूप से संगठित नहीं है। वर्ष 2011 की जनगणना के आंकड़े जैसे कूरुंगकुमे जिले का साक्षरता प्रतिशत इस स्थिति को स्पष्ट रूप से उजागर करता है।

वस्तुतः तानी बेल्ट और अन्य दोयनी पोलो अनुयायी क्षेत्रों में उच्च शिक्षा संस्थानों की स्थापना की अत्यंत आवश्यकता है। इससे न केवल नवस्थापित गुरुकुलों के छात्र पारंपरिक संस्कृति के संरक्षण, संवर्धन और प्रचार में सक्षम हो सकेंगे, बल्कि यह सांस्कृतिक आत्मगौरव को भी पुष्ट करेगा।

अतः, यह समय की मांग है कि अन्य सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन और उनके प्रबंधक भी अरुणाचल प्रदेश में सांस्कृतिक-आधारित कॉलेजों एवं विश्वविद्यालयों की स्थापना की दिशा में गंभीरतापूर्वक विचार करें, ताकि राज्य के विविध धार्मिक, भाषाई और सांस्कृतिक समुदायों को समावेशी और संतुलित शिक्षा प्रणालियों का लाभ प्राप्त हो।

## संदर्भ ग्रंथ :


1. बेगी, जे. (2007). अरुणाचल प्रदेश में 1947 के बाद शिक्षाः बाधाएँ, अवसर, पहल और आवश्यकताएँ. नई दिल्लीः मित्तल पब्लिकेशन।
2. टोक बोआ रीना. (2022). अरुणाचल प्रदेश में माध्यमिक शिक्षा का क्षितिजः समस्याएँ और संभावनाएँ. नई दिल्लीः एटलांटा पब्लिशर्स और डिस्ट्रीब्यूटर्स।
3. ताना, शॉरेन. (2009). अरुणाचल प्रदेश के न्यिशीः एक एथ्नो-ऐतिहासिक अध्ययन. दिल्लीः रीजेंसी पब्लिकेशन।
4. अनिया, जोराम. (2023). न्यिशी लोक साहित्य. आगराः हिंदी केंद्र संस्थान, भारत सरकार।
5. बिलोरे, आर.के. (2000). उत्तर-पूर्व भारत में मौखिक इतिहास. In एस. दत्ता (Ed.), अरुणाचल प्रदेश के इतिहास, अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर अध्ययन (pp. XX-XX). ईटानगरः हिमालयन पब्लिशर्स।
6. बोस, एम.एल. (1977). अरुणाचल प्रदेश का इतिहास. नई दिल्लीः कांसेप्ट पब्लिकेशन।
7. चौधरी, जे.एन. (1979). अरुणाचल पैनोरमा. ईटानगरः अनुसंधान निदेशालय, अरुणाचल प्रदेश।
8. दुबे, संजय. (1991). अरुणाचल प्रदेश में जनजातीय स्थानीय राजनीति और पंचायती राज की गति. नई दिल्लीः प्रीमियर पब्लिशिंग हाउस।
9. दत्ता, एस. (2000). अरुणाचल प्रदेश के इतिहास, अर्थव्यवस्था और संस्कृति पर अध्ययन (संशोधित संस्करण). ईटानगरः हिमालयन पब्लिशर्स।
10. एलविन, वेरीयर. (1958). भारत के उत्तर-पूर्वी सीमा के मिथक. शिलॉन्गः प्रकाशक अज्ञात।
11. अरुणाचल प्रदेश सरकार. (2003). अरुणाचल प्रदेश गजट. ईटानगरः ग्रामीण विकास विभाग।
12. अरुणाचल प्रदेश सरकार. (2005). अरुणाचल प्रदेश मानव विकास रिपोर्ट. ईटानगरः

अरुणाचल प्रदेश सरकार।

13. Sundriyal, R. C., Singh, T., & Sinha, G. N. (2002). Arunachal Pradesh: Environmental Planning and Sustainable Development-Opportunities and Challenges. Dehradun: Bishen Singh Mahendra Pal Singh.
14. ResearchGate. (2021). Education in India: Policy and Practice. Retrieved from https://www.researchgate.net/publication/356789123_Education_in_India_Policy_and_Practice
15. Ngamthong, H. A., & George, J. (2023). Role of Education in Social Development Among Tribal of Arunachal Pradesh: A Case Study. ResearchGate. Retrieved from https://www.researchgate.net/publication/373456789_Role_of_Education_in_Social_Development_Among_Tribal_of_Arunachal_Pradesh_A_Case_Study
16. Mihin, L. (2022). Development Scenario of Education in Arunachal Pradesh and Comparative Study of Male Female Literacy. Academia.edu. Retrieved from https://www.academia.edu/78945612/Development_Scenario_of_Education_in_Arunachal_Pradesh_and_Comparative_Study_of_Male_Female_Literacy

# बंकिम चंद्र की रचनाओं में राष्ट्रीय एवं सामाजिक चेतना

**डॉ. काजू कुमारी साव**

कवि, शैलीकार, द्रष्टा, राष्ट्रनिर्माता, बहुमुखी प्रतिभा के धनी बंकिम चंद्र जैसे रत्न का अवतरण नैहाटी के कांठलपाड़ा में एक संपन्न बंगाली परिवार में हुआ था। बंकिम चंद्र पर कुछ भी लिखने से पहले मेरे मन में एक सवाल उठ रहा है कि क्या नैहाटी के कांठलपाड़ा की वर्तमान जनता (शायद अधिकांशतः) जानती है कि बंकिम चंद्र जैसे महान रत्न उनकी पावन धरती की उपज है। टैगोर जी उनके बारे में लिखा है–"बंकिम चंद्र के दोनों हाथों में समान शक्ति थी,वे सच्चे अर्थों में सव्यसाची थे। एक हाथ से उन्होंने उत्कृष्ट साहित्यिक कृतियों का सृजन किया, तो दूसरे हाथों से उन्होंने युवा और महत्वाकांक्षी लेखकों का मार्गदर्शन किया, एक हाथ से उन्होंने साहित्य के ज्ञान की ज्योति प्रज्वलित की, तो दूसरे हाथ से उन्होंने अज्ञानता और कुत्सित धारणाओं के धुंए और राख को उड़ा दिया।"[1] बंकिम चंद्र बंगाल के 14वीं और 15वीं शताब्दी के ऐतिहासिक गौड़ीय वैष्णव सांस्कृतिक उत्कर्ष से विशेष रूप से प्रभावित थे।भगवद् गीता पर चट्टोपाध्याय की टिप्पणी उनकी मृत्यु के आठ साल बाद प्रकाशित हुई। सांख्य दर्शन पर एक लंबे निबंध में हुए तर्क देते हैं कि भारत में धार्मिक मान्यताओं के बड़े हिस्से का केंद्रीय दार्शनिक आधार, यहां तक किबौद्ध धर्म भी,सांख्य के दर्शन में निहित है। वे राजनीतिक और सामाजिक शक्ति के बजाय व्यक्तिगत वैराग्य पर जोर देने के आलोचक थे।

महापुरुषों से संबंधित अनेक किस्से-कहानियां सहजता से प्रचलित हो जाते हैं। इनमें महापुरुषों के जीवनीकार कुछ घटनाओं का उल्लेख इतनी गंभीरता के साथ करते हैं कि उन घटनाओं की सत्यता पर विश्वास-अविश्वास का प्रश्न किनारे कर उनका उल्लेख करने पर बाध्य होना पड़ताहै। बंकिम चंद्र भी इसके अपवाद नहीं है। बंकिम चंद्र के जन्म से संबंधित घटना इस प्रकार है–"बंकिम का जन्म 27 जून 1838 ईस्वी में हुआ था। आषाढ़ की रात होने पर भी उस दिन उस समय आकाश साफ़ था-कहीं बादल का टुकड़ा भी नहीं दिखाई दिया था। दोपहर को भोजन करने के बाद से ही बंकिम की माता को प्रसव-वेदना होने लगी थी। लेकिन यह बात उस समय उन्होंने किसी से नहीं कही। संध्या के कुछ पहले प्रसव-वेदना बढ़ उठी। तब सूतिका गृह साफ़ किया गया और 'दाई' को बुला लाने

के लिए लोग दौड़े। दाई ने आकर जांच की और गंभीर मुंह बनाकर कहा-'आज रात को बच्चा जनने की कोई संभावना नहीं।' उसके घड़ी भर बाद ही सहसा सूतिका गृह से कांपती हुई शंख ध्वनि सुनाई पड़ी। पुत्र-जन्म हुआ समझकर कई लोग सौर के पास दौड़े आए। बंकिम के पिता भी गए थे। सबको मालूम हुआ कि अभी पुत्र का जन्म नहीं हुआ। फिर यह शंखध्वनि कैसे हुई? किसने शंख बजाया? पता लगाने से जाना गया कि सौर में या आसपास के किसी स्थान में कोई शंख भी नहीं है। उस समय बंकिम के पिता के शरीर में रोमांच हो आया; उन्होंने आकाश की ओर देखकर भगवान को प्रणाम किया। उसके दम भर बाद ही प्रातःस्मरणीय बंकिमचंद्र का जन्म हुआ।"[2]

बंकिमचंद्र का बचपन में अधिक बीमार रहने के कारण खेलकूद की ओर एकदम ध्यान नहीं था। "बालकों के किसी खेल पर बंकिम को अनुराग नहीं था। स्कूल से लौटकर लड़के तरह-तरह के दौड़-धूप के खेल-खेलते थे, तरह-तरह के व्यायाम करते थे। लेकिन बंकिम उन खेलों को न तो खेलते थे और न देखते ही थे।"[3] फलतः सारा समय विद्याध्यायन में ही लगता था। इसका लाभ यह हुआ कि कई बार एक वर्ष में दो कक्षाएं उत्तीर्ण हुए। बंकिमचंद्र बेहद प्रतिभाशाली विद्यार्थी थे। किंतु स्कूल में उनका मन नहीं लगता था। वे लिखते हैं–'क्लास में कभी नहीं रहता था।' पांच वर्ष की उम्र में उन्होंने लिखना पढ़ना शुरू किया। उनकी व्यवस्थित शिक्षा 1846 ई० में मेदिनीपुर में प्रारंभ हुई– "पांच वर्ष की अवस्था में मेदिनीपुर में बंकिमचंद्र को अक्षरारंभ कराया गया था। उसके बाद बंकिम को माता के साथ कांठलपाड़ामें आना पड़ा। वहां आने के बाद उनकी शिक्षा का काम देहाती मदरसे के गुरु जी को सौंपा गया।...'क' 'ख' पढ़ते समय गुरु जी ने विस्मय के साथ देखा, पूर्वजन्म का ज्ञान अथवा असाधारण प्रतिभा बंकिमचंद्र की सहायता कर रही है। जिस वर्णमाला को पहचानने में साधारण बालक को पंद्रह दिन या एक महीना लगता है, उसे बंकिम ने, पांच साल की अवस्था में एक ही दिन में सीख लिया। उस समय बंगाल की पहली किताब 'वर्ण–परिचय' नहीं थी। उस समय जो किताब थी, उसका नाम था शिशु बोधक। 'असल' 'अवश' ऐसे वर्णों के शब्द सीखने में बंकिम को केवल दो-एक घड़ी समय लगा था। सुना है कि उस समय बंकिम ने गुरुजी से कहा था कि-'असल अवश आदि शब्द पढ़ने से ही अयश, कलश आदि शब्दों के पढ़ने की जरूरत नहीं रही। पन्ने उलटते जाइए।'गुरु जी ने आगे 'गीत' 'कीट' आदि शब्द पढ़ना शुरू किया। बंकिम ने इन शब्दों के तुल्य शब्दों को दम भर में सीख लिया और फिर कुछ नई इबारत पढ़ने का इरादा प्रकट किया। गुरु जी ने बहुत ही डर कर कहा-भैया बंकिम, इस तरह जल्दी पढ़ोगे तो मैं और कै दिन तुमको पढ़ाऊंगा।"[4] उनकी अद्भुत प्रतिभा देखकर अध्यापक उन्हें 'श्रुतिधर' कहते थे। बंकिम चंद्र ने स्वयं लिखा है कि केवल ग्यारह वर्ष की उम्र में उन्होंने रोलियास साहब का समस्त प्राचीन इतिहास और ह्यूमेर में इंग्लैंड की इतिहास की पुस्तक पूरी पढ़ डाली थी। स्कूल के कोर्स की पुस्तकों में अपने मन बाँध रखने में बंकिम चंद्र सर्वथा असमर्थ थे। ज्ञान की तृष्णा ने उनके हृदय को व्याकुल बना रखा था। बंकिम चंद्र हुगली

कॉलेज की विशाल लाइब्रेरी को मथकर इतिहास, जीवन चरित्र, साहित्य, काव्य आदि का अध्ययन करने लगे।स्कूल के कोर्स की पुस्तक न जाने कहां अस्त-व्यस्त पड़ी रहती थी। घर में या विद्यालय में बंकिम चंद्र उनकी ओर घड़ी भर भी आंख उठाकर नहीं देखे थे। लेकिन हां, जब सालाना इम्तिहान निकट आ जाता था, तब वह पाठ्य पुस्तकों को झाड़-पोंछकर पढ़ने लगते थे। परीक्षा का फल प्रकाशित होने पर देखा जाता था,बंकिम का नाम सब बालकों के नाम के ऊपर है।

पिता की सरकारी नौकरी के कारण उनके स्थानांतरण होते रहते थे। बंकिमचंद्र ने चार वर्षों तक मेदिनीपुर में शिक्षा ग्रहण की, उसके बाद वह अपने पिता के साथ पुनःकांठलपाड़ा आ गए।इसी समय उन्होंने संस्कृत सीखी। कांठलपाड़ा में उन्होंने मोहम्मद मोहसीन कॉलेज में दाखिला लिया। उस समय उनकी उम्र 11 वर्ष थी। बंकिम की अंग्रेजी-शिक्षा मेदिनीपुर के हाई स्कूल से शुरू होकर प्रेसीडेंसी कॉलेज में समाप्त हुई। मध्यकाल में 10-11 वर्ष तक बंकिम में हुगली कॉलेज में विद्या अभ्यास किया था। बंकिम चंद्र मेदिनीपुर से आकर 9 वर्ष की अवस्था में हुगली कॉलेज के स्कूल विभाग में भर्ती हुए थे। वहां उनकी अनन्य-साधारण बुद्धि और मेधा-शक्ति ने शिक्षकों कामन अपनीओर खींचा। बंकिमजिस बात को एक बार भी सुन लेते थे उसे शीघ्र नहीं भूलते थे। जिस तरह का हिसाब हुआ वह एक दफा कर लेते थे उस तरह का दूसरा हिसाब पढ़ने की उन्हें जरूरत ही नहीं पड़ती थी। वह निर्दिष्ट पाठ्य पुस्तक के भीतर ही अपनी बुद्धि को सीमाबद्ध नहीं रखते थे। जब स्कूल में Keightly, Elphinstone का इतिहास पढ़ाया जाताथा।तब वह घर पर Hume और Macahlayका इतिहास पढ़ा करतेथे। जब कक्षा में Rule of Three सिखाया जाता था तब वह घर पर Discount का अभ्यास करते थे। इस तरह वह सभी विषयों में अग्रणी थे। केवल अग्रणी ही नहीं, वह किसी भी बंधन के बीच रहना पसंद नहीं करते थे। लड़कपन या किशोरावस्था में बंकिम की यह आदत थी कि वह बहुत देर तक एक जगह बैठे नहीं रह सकते थे। पाठ में तन्मय होकर बहुत देर तक एक आसन पर बैठे रहना उनके स्वभाव के विरुद्ध था। जवानी में यह चंचलता और भी बढ़ गई थी। हमें जान पड़ता है, यह चंचलता प्रतिभा के कारण थी। अग्नि राशि भीतर जमा होने से जैसे पृथ्वी काँप उठती है या भीतर भापभर जाने से पात्र के ऊपर का ढकना जैसे उछलने लगता है, वैसे ही संचित प्रतिभा या शक्ति जब तक प्रकट होने की-निकालने की राह नहीं खोज पाती, तब तक प्रतिभाशाली या शक्तिशाली पुरुष स्थिर नहीं बैठ पाता। बंकिम चंद्र के प्रतिभाशाली व्यक्तित्व को उनके गुरु द्वारा कहे शब्दों से समझा जा सकता है-"हुगली कॉलेज में सुप्रसिद्ध जज द्वारकानाथ मित्र के सिवा और कोई बंकिम की ऐसी तीक्ष्ण प्रतिभा वाला छात्र नहीं आया। बंकिम और द्वारका बाबू की तुलना करके वही शिक्षक कहते थे कि मेधा शक्ति में द्वारकानाथ बंकिम से श्रेष्ठ थे और तीक्ष्ण बुद्धि में बंकिम चंद्र द्वारकानाथ से श्रेष्ठथे।"[5]

बंकिम चंद्र संयुक्त परिवार की उस विभीषिका का शिकार थे जो किसी व्यक्ति से उसकी स्वतंत्रता,शक्ति, समय और अर्थ का अपहरण कर लेतीहै। वे अपने पिता से बेहद

प्रभावित थे और उनका बहुत सम्मान करते थे। यद्यपि पिता प्रदत्त ऋणभार से वह आजीवन त्रस्त रहे तथापि वे सदैव एक आज्ञाकारी पुत्र रहे। दुर्गा पूजा का उत्सव अत्यंत खर्चीला होने पर भी वे सदैव मनाते रहे क्योंकि इसकी शुरूआत उनके पिता ने की थी।

19वीं शताब्दी में जिन-जिन महापुरुषों ने भारतवर्ष में जन्म लेकर अपने कामों से भारत-माता का मुख उज्ज्वल किया है, उनमें बंकिम चंद्र चटर्जी का आसान बहुत ऊंचा है। आजकल हम लोग बांग्ला साहित्य को जो इतना भरा पूरा पाते हैं,सो सब इन्हीं के कारण है। बांग्ला भाषा को उन्नति देने में जो काम इन्होंने किया, वह शायद ही किसी से हुआ हो-इसका सारा श्रेय इन्हीं को है। बंकिम चंद्र चटर्जी ने जीवन-पर्यंत अनवरत परिश्रम करके जो उपन्यास-ग्रंथ अपनी मातृभाषा को उपहार दिए हैं,वे उसके अमूल्य रत्न है। भारत में आज तक कोई ऐसा उपन्यास-लेखक नहीं हुआ, जो इस विषय में इनका मुकाबला कर सके। जिन्होंने इनके विष-वृक्ष, सीताराम, कपाल-कुंडला, मृणालिनी, चौबे का चिट्ठा आदि ग्रंथ रत्न पढ़े हैं, वे इस बात को अच्छी तरह जानते हैं। बंकिम जी के लेखन,पठन-पाठन की रुचि को इस रूप में समझा जा सकता है-सवेरे, दोपहर को, शाम को, रात को, सभी समय वह पुस्तक के लिए पढ़ा करते थे; उसी में मग्न रहते थे। उन्होंने पूर्ण यौवन अवस्था में अपने एक सहपाठी से कहा था कि-“मैं पुस्तकें पढ़ने में जैसा आनंद पाता हूं वैसा आनंद मुझे इस जगत में और किसी काम से नहीं मिलता।”[6] जवानी के शेष भाग में बहरामपुर में रहने के समय बंकिम ने मुंसिफ नफर बाबू से कहा था कि-“मुझे पुस्तक लिखने में जितना आनंद मिलता है उतना आनंद और किसी काम में नहीं मिलता।”[7] बंकिम चंद्र जी ने 15-16 वर्ष की अवस्था से ही कुछ-कुछ लिखना शुरू कर दिए थे। उनकी बाल्य रचनाओं में ‘ललिता’ और ‘मानसी’ काव्य श्रेष्ठ है। इन्हें बंकिम ने 16 वर्ष की अवस्था में लिखा था। मगर 18 वर्ष की अवस्था में फिर से संशोधित करके प्रकाशित किया था। ‘ललिता’ से उद्धत कुछ पंक्तियां-“गंभीर जल्द-नाद, आकाश बीच व्याप्त है।ऊंचे, अति ऊंचे शब्द रह-रहकर उठते। पवन जोर करता है, जैसे सागर का शोर हो;प्राण पण से हुंकारता है, गरजता है। कभी-कभी बिजली की आभा में, नीले मेघों के बीच देखता हूं, पागल सा जंगल हिल रहा है। पत्ते हिलते हैं बड़े-बड़े पेड़ घोर शब्द के साथ उखड़-उखड़ कर गिरते हैं।”[8]

‘ललिता’ में जगह-जगह पर विदेशी भाव दिखाई पड़ते हैं। लेकिन ‘मानसी’ काव्य में यह बात नहीं है। उसके केवल सुप्त प्रतिभा का अस्पष्ट गर्जन है। उसकी कविता खालिस देशी, सौंदर्यमय, भावपूर्ण है। किंतु भाषा के लिए बालक बंकिमचंद्र को कठिनाई का सामना करना पड़ा है-भाषा भाव के साथ नहीं चल सकी है। बंकिम बाबू बाल्यकाल से ही अकेले दूर बैठकर किसी का शिष्यत्व स्वीकार किए बिना ही काव्य और उपन्यास लिखते रहे। बंकिमचंद्र कवि भी थे और साहित्य के क्षेत्र में उनका प्रवेश भी कविताओं के रास्ते ही हुआ था। उनकी कविताओं के प्रकाशित संग्रह हैं-ललिता और मानस। इनके अलावा धर्म सामाजिक और समसामयिक मुद्दों पर आधारित कई निबंध भी उनके खाते में हैं। प्रशंसकों के अनुसार आजीविका के लिए हुए तत्कालीन गोरी सरकार की नौकरी जरूर

किए लेकिन अपने राष्ट्रीय स्वाभिमान एवं स्वभाषा प्रेम से कभी समझौता नहीं किया। एक बार वह अपने एक मित्र के अंग्रेजी में पत्र भेजने पर ऐसे नाराज हुए की उसे बिना पढ़े या लिखकर लौटा दिया कि अंग्रेजी न तुम्हारी मातृभाषा है न हीमेरी। उन्होंने अपनी रचनाओं में तो गोरे सत्ताधीशों पर तीखे व्यंग्य बाण चलाए ही है। 1872 में 'बंग-दर्शन' नामक मासिक पत्रिका प्रकाशित की तो भी अपना वही रवैया बरकरार रखा। ऐसा माना जाता है कि रवींद्रनाथ टैगोर इस बंग-दर्शन में लिखते-लिखते ही साहित्य के क्षेत्र मेंआए। वे बंकिम चंद्र को अपना गुरु मानते थे और उनका कहना था कि 'बंकिम बांग्ला लेखन के गुरु और बांग्ला पाठकों के मित्र है।' बंकिमचंद्र कृत 'वंदे मातरम्' को राष्ट्रीय गीत का गौरव प्राप्त हुआ। 'वंदे मातरम्' को पहली बार 1896 में कोलकाता में हुए भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अधिवेशन में गाया गया था। उसके बाद जल्दी ही यह भारतीय क्रांतिकारियों का पसंदीदा गीत और उद्घोष बन गया। बंकिम चंद्र की मृत्यु के दो-चार वर्ष पहले एक दिन उनकी बड़ी बेटी ने उनसे कहा था–"पिताजी तुम्हारे वंदेमातरम गीत को लोग उतना पसंद नहीं करते। बंकिम ने पूछा-'क्या तुम भी नहीं पसंद करती हो? कन्या ने कहा-हाँ, उतना तो नहीं पसंद करती। महापुरुष ने गंभीर वाणी से कहा-बीस-तीस साल के बाद एक दिन देखोगी,यही गीत सारे बंगाल को नए भाव में उन्मत्त बना देगा-बंगालियों की आंखें खोल देगा।"[9] यह भविष्यवाणी कितनी ठीक उतरी सो सारा देश जानता है। बंगाल ही में नहीं पूरे भारत में इस गीत की तान गूंज रही है।

इतना ही नहीं बल्कि बंकिम चंद्र ने अपने समय में स्त्री शिक्षा पर भी बहुत अधिक बल दिया था क्योंकि कहीं ना कहीं उनका मानना था कि स्त्रियों को नीति सिखाने के लिये, उनका ज्ञान बढ़ाने के लिए, उनकी बुद्धि परिमार्जित करने के लिए उन्हें लिखना पढ़ना सिखाना उचित है। इतना ही नहीं बल्कि अपने लेखनी द्वारा बंकिम बाबू ने समाज में व्याप्त कुछ कुरीतियां का विरोध भी किया जैसे उन्होंने अपने एक लेख 'साम्य' में स्त्रियों को पर्दे में कैद रखने की मानसिकता के संबंध में अपने विचार ही नहीं रखा बल्कि उनकी इस बंदिश का विरोध भी किया–"स्त्रियों को घर के भीतर जंगली पशुओं की तरह बंद कर रखने से बढ़कर निष्ठुर, नीच, निंदित, अधर्ममय वैषम्य और नहीं है। हम चातक पक्षी की तरह स्वर्ग में, पृथ्वी में सब जगह बिछड़ते रहेंगे, लेकिन औरतें छोटे से घर में, पिंजरे में पली हुई चिड़िया की तरह, बंद रहेंगी। पृथ्वी का आनंद, भोग,शिक्षा, कौतुक आदि जो कुछ जगत में अच्छा है,उसके अधिक अंश से वे वंचित रहेंगी। क्यों? पुरुषों की आज्ञा है।"[10] बंगदर्शन में बंकिम बाबू ने 'साम्य' (यानी बराबरी) नाम का एक विस्तृत लेख लिखा था। वह लेख पुस्तक के रूप में भी प्रकाशित हुआ था जिसमें वह समाज के हर क्षेत्र में समानता के प्रबल समर्थक रहे हैं। उनका मानना है जब प्रकृति हम सब में कोई भेदभाव नहीं करती तो हम आपस में क्यों भेदभाव करते हैं? उनका कहना था कि यह अधिकार-वैषम्य मिथ्या है। धर्म ही सत्य है। मिथ्या त्याग कर सभी को सत्यधर्म का पालन करना चाहिए लेकिन हमारे समाज में स्थिति कुछ और ही है। उसी तरह समाज में व्याप्त बहु विवाह की कुप्रथा का भी

उन्होंने बहुत ही प्रबल विरोध किया था। इन सबसे बड़े और विचार सापेक्ष गहन विषय विधवा विवाह पर बंगदर्शन के चतुर्थ खंड में बंकिम चंद्र ने इस तरह अपनी राय प्रकट की है-"विधवा विवाह भला भी नहीं है, बुरा भी नहीं है। सब विधवाओं का ब्याह होना कभी भला नहीं है। मगर हां, विधवा की इच्छा के अनुसार उसे विवाह का अधिकार होना भला है।....यदि पुरुष पत्नी-वियोग के बाद फिर ब्याह करने का अधिकारी है, तो साम्य-नीति के अनुसार स्त्री भी पति-वियोग के बाद, इच्छा करने पर फिर विवाह करने की अधिकारिणी है।...अतः विधवा को ब्याह करने का अधिकार आवश्यक है।"[11]

बंकिम चंद्र की प्रतिभा अध्ययन अध्यापन उनकी लेखनी उनकी सभी चीजों की लोगों ने मुक्त कंठ से प्रशंसा की है। ऐसा कहा जाता था कि कॉलेज में पढ़ते समय बंकिमचंद्र इतिहास के उद्भट पाठक थे और नामी इतिहासकार बनने की उनकी सदा इच्छा रहती थी। यह अक्सर देखा जाता है कि साहित्यनुरागी मनुष्य गणित से दूर भागते हैं। पर बंकिम जी पर यह बात घटित नहीं होती थी। वह गणित का अभ्यास उतनी ही रुचि के साथ करते थे जितनी रुचि के साथ साहित्य का पाठ करते थे। उनकी अंग्रेजी की लेखन शैली भी बहुत सुंदर और प्रौढ़ थी। वह स्वयं एक भारी लेखक थे। उनके ग्रंथों से पता लगता है कि उनमें वर्णन कर सकने और मानव जीवन और चरित्र को अंकित कर सकने कि कैसी विचित्र शक्ति थी। इन्हीं कारणों से उनके ग्रंथ इतने अधिक दिलचस्प और शिक्षाप्रद हैं।

उनके संबंध में किसी विद्वान ने ठीक ही कहा है-"बंकिमचंद्र चटर्जी भारत के निःसंदेह सर्वोत्तम उपन्यास-लेखक थे। लेखन-शैली को उन्नत और बांग्ला साहित्य को अधिक रोचक बनाने में जो काम इन्होंने किया वह और किसी भी लेखक से नहीं हो सका–इसका अधिकतर श्रेय इन्हीं को है। बहुतेरे देशवासियों की निरर्थक और शीघ्र विध्वंस हो जानेवाली पुस्तकों पर की हुई इनकी तीव्र आलोचनाओं ने और हिंदू सामाजिक जीवन के दोषों और न्यूनताओं तथा कलुषित और मिथ्या हिंदू-धर्म से उठनेवाली बुराइयों के निर्भय दिग्दर्शन में बांग्ला साहित्य के इतिहास में पूर्ण परिवर्तन उपस्थित कर दिया।"[12]

'दुर्गेशनंदिनी' बंकिम बाबू का सबसे पहला उपन्यास है। इस उपन्यास को लिखकर वे दुविधा में पड़ गए कि यह उपन्यास छापने योग्य नहीं है। इसके लिए बंकिम बाबू अपने बड़े भाई श्यामाचरण और संजीवचंद्र से परामर्श किया। उन्होंने भी पाण्डुलिपि सुनकर यही कहा कि यह उपन्यास अपने छपने योग्य नहीं है अतः बंकिम बाबू का आत्मविश्वास डगमगाने लगा। वे निरुत्साहित होकर दुर्गेशनंदिनी की पांडुलिपि लिए नौकरी पर चले गए। इसका बुरा असर यह हुआ कि उनका श्रेष्ठ उपन्यास 'कपालकुंडला' भी उपेक्षित होकर अधूरी पड़ी रही। पर दो वर्ष बाद जैसे ही उनके बड़े भाइयों को अपनी भूल का एहसास हुआ तो उन लोगों ने 'दुर्गेशनंदिनी' को छपवाने का स्वयं ही प्रबंध किया। एक बार धोखा खाने के बाद बंकिमबाबू ने भविष्य में आगे से कभी भी अपनी पाण्डुलिपि किसी को नहीं दिखाएं और ना ही किसी से कोई राय परामर्श किए। लिखते समय उनकी स्थिति कुछ इस तरह रहती थी कभी वह गंभीर बादल की तरह बरसने को तैयार, तो कभी बालक की तरह चंचल दिख पड़ते, कभी वह एक लाइन लिखकर उसे काट देते, फिर कुछ सोचते, फिर

लिखने का प्रयत्न करते या कभी कलम रखकर इधर-उधर टहलने लगते थे। लंबे समय तक कभी एक लाइन भी नहीं लिखते और कभी ऐसा भी होता कि उनकी लेखनी बढ़ी हुई नदी की तरह तेजी से चलती थी। उस समय बेशक वह वाह्य ज्ञान शून्य होकर तन्मय हो जाते थे। बंकिमबाबू के लिखने का ढंग कुछ विचित्र था। हर एक पात्र, परिदृश्य, घटना पहले से तय करके लिखना शुरू करते पर अचानक से वे सब काट-छांट करके सब कुछ बदल देते थे। शचीश बाबू के शब्दों में उनकी लेखनी को समझा जा सकता है–"मैंने कई विशिष्ट ग्रंथकारों की पांडुलिपियाँ देखी हैं। मेरे ससुर स्वर्गीय बाबू दामोदर मुखोपाध्याय कभी एक लाइन भी नहीं बदलते थे। रमेश बाबू लिखे हुए को कम नहीं करते थे, बल्कि बढ़ाते थे। हेमचंद्र बनर्जी बहुत तेजी के साथ लिखते थे। अंत को कुछ-कुछ परिवर्तन करते थे। बंकिमचंद्र बराबर परिवर्तन करते थे। लिखने के समय करते थे, दूसरे दिन करते थे, छः महीने और एक-दो साल के बाद भी करते थे। जब तक लेख उनकी रुचि के माफ़िक न होता था, जब तक उनका जी नहीं भरता था, तब तक वह बराबर परिवर्तन करते जाते थे। एक बात या एक भाव के लिये इतना समय खर्च करते मैंने और किसी को नहीं देखा।"[13]

बंकिम बाबू के बाद उनके स्थान की पूरी पूर्ति तो नहीं हुई किंतु बाबू रवींद्रनाथ ठाकुर और द्विजेन्द्र राय ने बहुत कुछ उस हानि को पूरा कर किया। बंकिम बाबू के प्रायः सभी रचनाओं का हिंदी अनुवाद हो चुका है और इस प्रकार हिंदी साहित्य पढ़ने वाले बंकिम बाबू के प्रधान पांडित्य, गंभीर गवेषणा, अप्रतिम कल्पना और लिपिचातुर्य से पूर्ण परिचित हो चुके हैं। इस कारण विशेष रूप से यह बताने कि आवश्यकता नहीं है कि साहित्य-सम्राट, भाषा भंडार के अमूल रत्न, बंकिम बाबू का स्थान कितना ऊंचा है।

**संदर्भ ग्रंथ :**


1. पांडेय रूपनारायण, बंकिमचंद्र चटर्जी, गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, प्रथम संस्करण– 1976,पृष्ठ-195
2. वही, पृष्ठ-28
3. वही, पृष्ठ-32
4. वही, पृष्ठ-31
5. वही, पृष्ठ-39
6. वही
7. वही
8. वही, पृष्ठ-49
9. वही, पृष्ठ-183
10. वही, पृष्ठ-204
11. वही, पृष्ठ-215
12. वही, पृष्ठ-166
13. वही, पृष्ठ-180

# नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्री पात्रों की भूमिका

**डॉ. राहुल देव पाण्डेय**

नागार्जुन के उपन्यास साहित्य की ओर यदि गहन दृष्टिकोण डाली जाए तो हम पायेंगे कि उसमें मिथिलांचल के जनपद के समाज का चित्रण बड़े सूक्ष्म रूप से हुआ है। सामाजिक चेता उनके उपन्यास में सर्वत्र व्याप्त है। उनके उपन्यासों में मुख्य पात्रों की अहम भूमिका तो है ही साथ-साथ गौण पात्र भी मुखर रूप में चित्रित किए गये हैं। उनके उपन्यासों में स्त्री पात्रों का जो चित्रण प्रस्तुत किया गया है वह भारतीय स्त्री-जीवन का सही प्रतिबिम्ब है। भारतीय स्त्रियों पर होने वाले शोषण, विधवा विवाह, अनमेल विवाह, वैश्वावृत्ति, बहुपत्नी प्रथा और स्त्रियों के क्रय-विक्रय संबन्धित समस्याओं आदि का बड़ा मार्मिक चित्रण इनके उपन्यासों में हुआ है। नागार्जुन के भीतर एक आग थी जिसकी आँच में वे अपने पूरे पाठक वर्ग को तपाना चाहते थे। कमलेश्वर ने ठीक ही कहा है– "नागार्जुन से मिलना तो भीतर की आग माँगना है जो बहुतों के पास नहीं होती। खुद वह नहीं देगा। किसी शाम या सुबह उसके साथ लग जाना, तब वह जलता हुआ शहर तुम्हें दिखाएगा और गौर से देखना, उस शहर के बीचों-बीच वह खुद भी जल रहा होगा।"[1]

नागार्जुन के उपन्यासों का चरित्र विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि उनके उपन्यासों के हर स्त्री पात्र की अपनी मौलिकता, अस्तित्व और व्यक्तिकता है। इन नायिकाओं गुण विशिष्ट और सराहनीय है। प्रत्येक स्त्री पात्र किसी भी रूप में पुरुष पात्र के कमतर नहीं हैं। इस संदर्भ में विजय बहादुर सिंह लिखते हैं–"पढ़ी और सुनी हुई दुनिया पर उनका भरोसा कतई नहीं है। वे देखी हुई दुनिया के लेखक हैं। इसलिए उनके चरित्र बेहद प्रमाणिक है।"[2] नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्री-शोषण के खिलाफ सक्रिय पहल को साफ-साफ देखा जा सकता है। 'रतिनाथ की चाची' उपन्यास में नागार्जुन ने 'गौरी' के माध्यम से एक ऐसी स्त्री पात्र का उदाहरण प्रस्तुत किया है जो साज के रीति-रिवाज के कारण अधेड़ बीमार पुरुष के साथ ब्याह दी जाती है। पति की मृत्यु के पश्चात् कम उम्र में ही विधवा हो जाती है। देवर द्वारा शिकार बनाये जाने के बाद गर्भवती होकर भी, सामाजिक ताने सुनकर भी अवैध संतान को धारण करना चाहती है। वह आत्महत्या

नहीं करना चाहती है। वह अपने पिता केघर भी जाना नहीं चाहती। गौरी अमावस की उस भयावह रात को याद करती है–"एकघनी और अंधेरी चाया मेरे बिस्तर की तरफ बढ़ आयी। उसके बाद क्या हुआ, इस बात का होफ अपने को नहीं रहा।"[3]

गौरी उन स्त्रियों का प्रतिनिधित्व करती है जो जीवन के आदि से अन्त तक कष्टों और अन्याय को सिर झुकाकर स्वीकार कर लेती है। नागार्जुन ने गौरी की सहनशीलता और चुप्पी का इतना मार्मिक चित्रण किया है कि वह पाठकों के अन्दर कामुक पुरुषों तथा सामाजिक कुरीतियों के प्रति विद्रोह जगा देता है।

'नई पौध' उपन्यास में बिसेसरी मुख्य पात्र है जो अनमेल विवाह की भुक्तभोगी है। बिसेसरी चौदह वर्षीय लड़की है जिसका विवाह साठ वर्षीय चतुरानन चौधरी से कर दी जाती है। इस अनमेल विवाह का प्रधान कारण आर्थिक समस्या है। विसेसरी को नौ सौ रुपये लेकर एक बूढ़े से ब्याह दिया जाता है। बिसेसरी की माँ सोचती है–"धन-सम्पदा ही क्या बड़ी चीज है? पन्द्रह साल की बच्ची पचास साल के पकठोस दुल्हा के साथ किस तरह अपना जीवन काटेगी। हे राम! अनमेल विवाह के भयंकर से भयंकर परिणामों की कल्पना से उसकी रग-रग दहक उठी, रोंगटे खड़े हो गये।"[4]

बिसेसरी एक साहसी, स्वतंत्र और आत्म-विश्वास से भरी लड़की है जो अनमेल विवाह के गर्त से निकलकर प्रगतिशील विचारधारा के कारण मनचाहा वर प्राप्त करती है। विभिन्न आन्दोलनों और सुधारों के बावजूद भी ग्रामीण अंचलों में स्त्रियों के स्थितियों में आज भी बदलाव नहीं आया है जो चिन्ता का विषय है।

"पारो' उपन्यास में प्रमुख पात्र 'पारो' है जो स्त्री जाति पर पुरुषों द्वारा युगों से हो रहे अत्याचार का प्रतिनिधित्व करती है। इस उपन्यास में अनमेल विवाह की समस्या की भयावहता को तीव्रता से अजिया गया है। पारो अपने ऊपर हो रहे अत्याचार से पीड़ित होकर कह उठती है–"हे भगवान, लाख दण्ड दे, मगर फिर औरत बनाकर इस देफ में जन्म नहीं दे।"[5]

पारो उस स्त्री समाज का प्रतिनिधित्व करती है जो सामाजिक नियम और नैतिकता के तरह-तरह के बन्धनों में ऐसे बाँध दी जाती है कि वह युगों-युगों तक आत्मोद्धार की बात ही न सोच सके। 'वरुण के बेटे' उपन्यास की नायिका "माधुरी' है। माधुरी के पिता उसे बेटी नहीं बल्कि बेटा मानती है। वह स्वाभिमानी तथा आत्म सम्मान से जीने वाली स्त्री है जिसे गुलामी पसन्द नहीं है। माधुरी मंगल से प्रेम करती है। परन्तु मंगल का विवाह किसी अन्य लड़की से हो जाने पर माधुरी अपने प्रेम का बलिदान दे देती है और कहती है कि मंगल अब जब तुम विवाह कर चुके हो तो तुम अपने पत्नी के प्रति वफादार रहो और मैं अपने पति के प्रति वफादार रहूँगी। माधुरी का महत्वपूर्ण त्याग उसके चरित्र को और उदात्त बना देती है।

माधुरी पुरुषों की गुलामी स्वीकार नहीं करती है और अपने बौड़म तथा डरपोक पति को छोड़कर मायके चली आती है। वह स्वाभिमानी स्त्री है जो मार खाकर बातें

सुनकर नहीं रह सकती। उसे अपमानित और शोषित जीवन जीना पसन्द नहीं है। वह निर्णय लेती है कि–"अब वह कभी उस नशाखोर बूड्ढ़े की लात-बात बर्दाश्त करने नहीं जाएगी...फिर से शादी कर लेगी, किसी दिलेर, नेक चलन और मेहनतकश जवान से... और बगैर मर्द के कोई औरत अकेली जिन्दगी नहीं गुजार सकती क्या?''6

'बलचनमा' उपन्यास में नागार्जुन ने गौ पात्रों को भी प्राथमिकता दी है। इसमें नारी पात्र मलकाइन का सशक्त रूप पाठक के सामने आती है जो नौकरों पर अत्याचार, अमानवीय व्यवहार कर अपने चरित्र का परिचय देती है। वह नौकरों को जानवर के समान समझती है।

बलचनमा के पिता की मृत्यु के बाद उसे भैंस चराना, बच्चे खिलाना, पानी भरना, झाड़ू लगाना, मलिकाइन के पैर दबाना आदि काम करना पड़ता था। मलकाइन का व्यवहार अत्यंत निर्मम था। उसे नौकरों पर दया नहीं आती थी। वह नौकरों को आराम करते देखना नहीं चाहती थी। इसलिए हुकुम पर हुकुम देती रहती थी। वह कहती है– "लगता था कि बलचनमा बीस शरीरधारी है और एक ही समय में बखूबी बीस काम कर सकता है।"7

'उग्रतारा' उपन्यास की प्रमुख पात्र बाल-विधवा 'उगनी' है जिसके पति की मृत्यु स्टीमर दुर्घटना में हो गई थी। वह मढ़िया सुन्दरपुर में रहती है। उसी गाँव के विधुर कामेश्वर से प्रेम करती है। दोनों विवाह भी करना चाहते हैं पर सामाजिक नियम कानून के कारण से विवाह नहीं कर पाते। दोनों पलायन भी करना चाहते हैं। कामेश्वर और उगनी को फर्जी केस में फँसाकर जेल भेज दिया जाता है। जेल में उगनी पर हवलदार बुरी नजर रखता है। महिला वार्डन कहती है–"सिपाही जी, यह जो नई छोकरी आई है उसेक आगे-पीछे कोई नहीं है। बिल्कुल उड़ाऊ माल है, जिसकी डाल मेंघोसला होगा, उसी पेड़ के हवाले कर देगी अपने को।"[8]

दुःखमोचन उपन्यास की नायिका माया है जो एक विधवा स्त्री है। उसका पति 'बूढ़ी गंडक' नदी पार करते हुए नाव के पलटने से डूबकर मर जाता है। ससुराल की आर्थिक दशा खराब होने के कारण वह अपने मायके में ही रह जाती है। माया अपने मायके के ही एक विधुर कपिल से प्रेम कर बैठती है और विवाह भी करना चाहती है पर गाँव के लोग दोनों का विवाह नहीं होने देते। दोनों दुःखमोचन की मदद से विवाह कर प्रगतिशील विचारधारा का परिचय देते हैं। और समाज के रूढ़ी तथा दकियानूसी विचारधारा को ठेंगा दिखाती है। इस उपन्यास का यह वाक्य प्रगतिवादी विचारधारा को प्रकट करती है–"विवाह के आरंभ में कुल देवता की पिंडी पर न तो मातृका की पूजा हुई और न गणेश को ही याद किया... मगर विवाह की विधियाँ सकुशल सम्पन्न हुई– माँग में सिंदूर पड़ा, गाँठ भी बँधी, फेरे भी लगे, सब कुछ हुआ।"[9]

"जमनिया का बाबा' उपन्यास का प्रमुख पात्र 'इमरतिया' है। वह एक बहादुर और भावुक स्त्री है। वह एक सधुआइन जीवन जी रही है। वह बाबा, मस्तराम और

भगौती जैसे झटी संत-साधुओं के चक्कर में फँसकर जेल जाती है। जेल बाहर आकर वह मस्तराम के साथ जीवन व्यतीत करना चाहती है। वह मस्तराम के प्रति आसक्त है। वह बाबा के विषय में सोचती है कितने ढोंगी और नीच है, मेरे फरीर में फोड़े हो गये थे तो "मेरे जिस्म का हिस्सा-हिस्सा बाबा खुद अपने हाथों से छूने-सहलाने-टटोलने का अच्छा बहाना पा गये थे, इस बार! मैं सिहर-सिहर उठती थी...बसमतिया और शिवकली को भी अखरता था...वे अन्दर-अन्दर कूढ़ती थीं।"[10]

कुंभीपाक की प्रमुख स्त्री पात्र 'निर्मला' है जो एक कम्पाउंडर की पत्नी है। निर्मला को मातृसुख प्राप्त नहीं हो सका, जिससे वह दुःखी रहती थी और बोली में कटुता आ गई थी। परन्तु मन से बहुत अच्छी स्त्री थी। निर्मला एक आदमी के मकान में किराये पर रहती है। वहीं भुवन भी रहती है। भुवन दलालों के चक्कर में फँसकर धंधा करने लगती है। निर्मला भुवन की सारी बातें मालूम करने लगती है। भुवन भी सब कुछ निर्मला को बताती है। भुवन एक दिन बताती है कि शर्मा उसे बेचने ले जा रहा है। निर्मला उसे छिपाकर अपने मौसेरे भाई के पास भेज देती है जहाँ उसे लगता है कि वह सुरक्षित रहेगी। वह पत्र में अपने भाई को लिखती है–"लड़कियों और औरतों की खरीद बिक्री जिनका धंधा था, ऐसे ही एक राक्षस के चंगुल से आपकी छोटी बहन इंदिरा को छुड़ा लाई है।"[11]

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि नागार्जुन की स्त्री पात्र पुरुषों से कमतर नहीं है जो भाग्य में विश्वास करने की जगह कर्म में विश्वास करती है। नागार्जुन का स्त्रियों के प्रति गहरी सहानुभूति है जो प्रखर रुप में व्यक्त होती है। स्त्रियाँ प्राचीन काल से सामाजिक विडम्बनाओं से जूझती रही है जिसके खिलाफ नागार्जुन ने हमेशा विरोध का स्वर उठाया है। लड़कियों का विवाह बचपन में ही कर देने पर वे आजीवन उसका भुगतान करती है। अनमेल विवाह का उदाहरण नागार्जुन ने गौरी, पारो, उग्रतारा आदि के माध्यम से उठाया है। लेखक ने सिर्फ समस्याओं को उठाते हैं बल्कि प्रगतिशील ढंग से उसका समाधान भी अपने उपन्यासों के माध्यम से करते हैं। वे मानते हैं कि यदि स्त्रियाँ शिक्षित होगी तो उनका सर्वांगीण विकास होगा। शिक्षा ऐसा माध्यम है जिससे मानसिक, सामाजिक, आर्थिक विकास किया जा सकता है। इससे वे अपने अधिकारों को प्राप्त कर सकती है। नागार्जुन के स्त्री पात्र ग्रामीण, कम पढ़े-लिखे और अशिक्षित होते हुए भी स्त्री शिक्षा का समर्थन करती है। उनका राष्ट्र और समाज के विकास में महत्वपूर्ण योगदान है। यदि स्त्रियाँ सबल होंगी तो देश और समाज सबल बनेगा।

नागार्जुन की स्त्री वेदना कितनी गहरी है इसको समझने के लिए उनके वक्तव्य को देखना जरुरी है–"हमें लगा कि विधाता हो तो सात या नौ महीने के लिए माँग लेंगे कि हमको स्त्री बनाओ। सबसे बड़ा हरिजन जो है ये महिलाएँ हैं। इनका दलितपना कब समाप्त होगा, ये हमको नजर नहीं आ रहा है। विदेशी रेडियो से हम सुनते हैं कि औरत को तेरह भार जेलने पड़ते हैं। गर्भभार उसकी तुलना में बहुत कम है।"[12]

नागार्जुन चाहते हैं कि स्त्री को अपने जीवन में परिवर्तन लाने के लिए प्रगतिशील

दृष्टिकोण अपनाना होगा। अंधश्रद्धाओं, अंधविश्वासों, कुरीति, रूढ़िवादिता, अशिक्षा, गरीबी, अनमेल विवाह जैसे प्रतिकूल परिस्थितियों के चक्रव्यूह को तोड़कर आगे बढ़ने, शक्तिशाली और उज्ज्वल भविष्य बनाने के लिए नागार्जुन के स्त्री पात्र तैयार दिखाई पड़ते हैं।

## संदर्भ ग्रंथ


1. यास्मिन सूफिया, नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्री, साहित्यागार, जयपुर, प्रथम संस्करण-2015, पृ.सं.-24
2. सिंह विजय बहादुर, नागार्जुन का रचना संसार, संभावना प्रकाशन, संस्करण-1982, पृ.सं.-79
3. शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, भाग-4, रतिनाथ की चाची, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ.सं.-16
4. शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, भाग-4, नई पौध, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ.सं.-254
5. शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, भाग-4, पारो, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ.सं.-531
6. शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, भाग-4, वरुण के बेटे, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ.सं.-496
7. शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, भाग-4, बलचनमा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ.सं.-133
8. शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, भाग-4, उग्रतारा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ.सं.-369
9. शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, भाग-4, दुखमोचन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ.सं.-113
10. शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, भाग-4, जमनिया का बाबा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ.सं.-401
11. शोभाकान्त, नागार्जुन रचनावली, भाग-4, कुम्भीपाक, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण-2003, पृ.सं.-175
12. यास्मिन सूफिया, नागार्जुन के उपन्यासों में स्त्री, साहित्यागार, जयपुर, प्रथम संस्करण-2015, पृ.सं.-132

# नागालैंड की सांस्कृतिक पहचान

**नीता शर्मा**

आओ जनजाति नागालैंड की 17 जानी मानी जनजातियों में से एक प्रमुख जनजाति है। इस जनजाति को अपने सघन सांस्कृतिक तथा परंपरागत धरोहर का गौरव प्राप्त है। ये जनजाति नागालैंड के मोकोकचुंग जिला में पाई जाती है। नागालैंड चूंकि एक पहाड़ी क्षेत्र है, इसलिए आओ जनजाति भी जिन स्थानों पर पाई जाती है वह क्षेत्र भी पहाड़ी होने के कारण वनस्पति तथा जीव जंतुओं से भरपूर है। जबकि पहाड़ी क्षेत्रों का औद्योगीकरण एवं शहरीकरण होने के कारण यहां की प्राकृतिक संपदा समाप्त होती जा रही है। फिर भी आओ जनजाति का निवास क्षेत्र अपनी मनोहर छवि तथा विशालदर्शिता के कारण मंत्रमुग्ध कर देने वाला है। आओ जिला पूर्णतया छः पहाड़ी चोटियों को मिलाकर बना है। यह चोटियां हैंः ओंगपेंकोंग चोटी, लेंगपेंकोंग चोटी, असेटकोंग चोटी, चेंगकिकोंग चोटी, जपुकोंग चोटी तथा जुरेंगकोंग चोटी। इन सभी चोटियों में अलग-अलग आओ गांव बसते हैं तथा इन सभी गांव में बसने वाले आओ जनजाति के लोगों की भाषा में बहुत हल्का सा अंतर पाया जाता है।

आओ जनजाति का आरंभ कब हुआ? इस बारे में एक अति रोचक एवं लुभावनी दंत कथा प्रचलित है। आओ लोगों के विश्वास अनुसार आओ नागा का उद्गम 'लोंगटेरोक' अथवा छः पत्थर माना जाता है। इन छः पत्थरों में आओ जनजाति के छह पूर्वज सम्मिलित हैं, जिनमें तीन नर व तीन नारियां पाई जाती हैं। ये हैं, टोंगपोक अपनी बहन लेंडीना के साथ, लोंगपोक अपनी बहन योंगमेनाला के साथ और लोंगजकरेप अपनी बहन इलोंग्शे के साथ। यह तीनों भाई-बहन की जोड़ियां अलग-अलग वंश की थी। परंतु तीनों भाई बहनों के अंतर्जातीय विवाहों के बाद आगे चलकर इनके वंश बढ़ते गए और हर बच्चा एक नए वंश का पूर्वज बनता गया। इस दंतकथा के अनुसार यह पूर्वज आरंभ में चुंगलियिमती नामक स्थान में निवास करते थे। यहां ये लोग काफी समय तक रहे परंतु अब इन यह थान संगतांग नागा का निवास माना जाता है जो ह्यूनसंग प्रदेश के रहने वाले हैं।

## रहन-सहन

संसार की अन्य जनजातियों की तरह ही आओ जनजाति 'अरिजू' नामक शयनगृह

अर्थात एक सामाजिक संस्था द्वारा स्थापित 'युवकों के लिए आवास', जिसमें जो भी 12 से 14 वर्ष के कुंवारे युवक होते हैं उन्हें अपना घर छोड़कर 'आरिजू' में शादी होने तक रहना पड़ता है। इस संस्था में उन्हें सामाजिक प्रथाओं तथा शिक्षा का ज्ञान दिया जाता है। इसी प्रकार युवतियों के लिए 'स्तुकी' नामक आवास स्थापित किए जाते हैं। सारा दिन खेतों में मेहनत करने के बाद शाम के समय अविवाहित नवयुवक एवं नवयुवतियां 'स्तुकी' में मिलते हैं तथा गीत गाकर अपने विचारों का आदान प्रदान करते हैं।

## भाषा

आओ भाषा दो भाषाओं चुंगली तथा मोंगसेन भाषाओं को मिलाकर बनी है। चुंगली भाषा जबकि जनजाति की राजभाषा मान ली गई है।

## भोजन

आओ जनजाति के लोगों का पसंदीदा भोजन मांस और मछली है। अधिकतर लोग मांसाहारी हैं। मांस को उबालकर उनमें स्थानीय जड़ी बूटियों और मसालों को मिलाकर एक विशेष विधि से पकाया जाता है। दूसरे सभी व्यंजन भी स्थानीय मसालों को मिलाकर ही पकाए जाते हैं।

## हस्तकला

नागालैंड की अन्य जनजातियों की भांति ही महिलाओं द्वारा रंग-बिरंगे ऊनी व सूती शॉल बुनना आओ जनजाति की महिलाओं का उद्योग माना जाता है। शॉल का आकार तथा डिजाइन महिलाओं तथा पुरुषों के लिए अलग-अलग होता है। आओ महिलाओं द्वारा बुना हुआ 'सुंगकोटेपसु' तथा 'रोंगसू' नामक शॉल अति प्रसिद्ध है। बेंत और बांस का उपयोग कर चटाई, टोकरी, आभूषण इत्यादि भी बनाने में आओ लोग निपुण हैं। विशेष उत्सवों में पहने जाने वाले आभूषण जिनमें जानवरों के सींग, हड्डियों और दांतों से बने गहने भी ये लोग स्वयं ही बनाते और बेचते हैं। आओ जनजाति के लोग एक विशेष प्रकार की मिट्टी से बने बर्तन भी बनाते हैं इसके अलावा धातु के प्रयोग से कृषि में प्रयोग किए जाने वाले औजार, तीर, भाले, तलवार आदि बनाने में भी निपुणता हासिल है।

## नगाड़ा

पेड़ के तने से बना नगाड़ा (ड्रम) ना केवल आओ बल्कि संपूर्ण नागा जनजाति की एक प्रचलित हस्तकला है। आओ भाषा में इस नगाड़े को 'सुंगकॉन्ग' कहते हैं। यह हर आओ गांव में पाया जाता है। असल में जब भी किसी नए गांव की स्थापना की जाती है तब नगाड़ा बनाकर उसे गांव के बीचों-बीच या 'अरिजू' (युवकों के लिए आवास) के आगे रखा जाता है। ऐसा माना जाता है कि 'सुंगकॉन्ग' बनाने से गांव में अधिक खुशहाली और प्रगति होती है। इसे गांव का सम्मान, प्रगति और वरदान का प्रतीक तो माना ही जाता है, इसके अलावा अन्य कार्यक्रमों में भी इसे बजाया जाता है। इसे बजा-बजाकर

लोगों को ग्रामसभा के लिए सूचित किया जाता है। इसके अलावा गांव वासियों को आने वाले खतरे जैसे शत्रु का आक्रमण, आग लगना तथा अन्य आपदाओं की जानकारी भी दी जाती है। नागा सैनिकों के विजयी होकर अपने शत्रु का सर काट कर 'विजयचिन्ह' के रूप में इसे लाने पर नगाड़ा बजाया जाता है। शेर या जंगली भालू का पीछा करते हुए भी इसे बजाया जाता है। सूर्यग्रहण और चंद्रग्रहण के समय भी इसे बजा-बजाकर शोक प्रकट करते हुए सूर्य को दोबारा उगने के लिए प्रार्थना की जाती है। नगाड़े को 'गांव का देवता' भी कहा जाता है क्योंकि ऐसा माना जाता है कि नगाड़ा समूचे गांव को सुरक्षा, मार्गदर्शन तथा वरदान प्रदान करता है। 'सुंगकॉन्ग' के बारे में सबसे अचंभित कर देने वाली जो बात है वह है, इसको बजाने के भिन्न-भिन्न प्रकार और हर ताल भिन्न अर्थ तथा संदेश का वर्णन करता है। इसके संदेश हर स्थान पर अलग होते हैं क्योंकि यह संकेतों और ध्वनि की गोपनीयता बनाए रखते हैं। गांव का हर व्यक्ति इसके हर ताल के पीछे छिपे संदेश को समझ कर उसका वर्णन करने में सक्षम होता है।

धर्म या आस्था आओ जनजाति जीववाद का अभ्यास करते थे। पहले यह ईश्वर के कई अस्तित्वों तथा दोनों प्रकार की आत्माओं (चाहे वह परोपकारी हो या दुराचारी) में विश्वास रखते हुए देवी देवताओं को शांत करने के लिए कई प्रकार के धार्मिक आयोजन बलिदान तथा रस्मों रिवाज निभाते थे। सभी देवी देवताओं में 'लिजाबा' यानी 'पृथ्वी का देवता' को सर्वोच्च स्थान प्राप्त था। आओ जनजाति का विश्वास था कि बड़े-बड़े पत्थर देवी-देवताओं के निवास स्थान होते हैं, इसलिए यह उनकी पूजा करते थे। इसके अलावा अन्य पदार्थों जैसे पानी, अमीर लोगों के और सैनिकों के ताबूतों को भी पूजा जाता था।

## त्यौहार

आओ जनजाति के प्रमुख दो ही त्यौहार हैं, 'मौअत्सु' और 'त्सुंगरेमोंग'। यह त्यौहार आज भी नागालैंड में पूरे धूमधाम और उत्साह से मनाए जाते हैं। 'मौअत्सु', हर वर्ष मई महीने के प्रथम सप्ताह में मनाया जाने वाला त्यौहार आओ जनजाति का प्रमुख त्यौहार है जिसे वरदान का त्यौहार भी माना जाता है। संपूर्ण गांव तथा अच्छी फसल के लिए प्रमुख देवता 'लिजाबा' की स्तुति कर उन से वरदान मांगा जाता है। खेतों में नए अनाज को रोपने के बाद इस त्यौहार को मनाया जाता है। परंपरागत तरीके से नृत्य, संगीत, रस्साकशी और अन्य कई कार्यक्रमों में महिलाओं, पुरुषों तथा बच्चों का भाग लेना इस त्यौहार की विशेषता मानी जाती है।

## त्सुंगरेमोंग

ईश्वर को धन्यवाद प्रदान करने के लिए ये त्यौहार अगस्त महीने के पहले सप्ताह में मनाया जाता है। ये त्यौहार फसल की कटाई से पहले किया जाने वाला आयोजन होने के कारण, त्यौहार की शुरुआत से पहले पूरे खेतों की सफाई कर उन सभी वस्तुओं को

जिनसे फसल की कटाई की जाती है उन सब वस्तुओं को तैयार करके रख दिया जाता है। प्रमुख देवता 'लिजाबा' को बलिदान देकर प्रार्थना की जाती है, इस प्रकार 'त्सुंगरेमोंग' त्यौहार की विशेषता पूजा-अर्चना, बलिदान, भोज तथा नई मदिरा के साथ आशिर्वादों का आदान-प्रदान भी माना जाता है।

अन्य नागा जनजातियों की तरह ही आओ जनजाति के लोग भी 'हेड हंटर' यानी सरों का शिकार करने वाले थे। 'हेड हंटर' की प्रथा का उत्थान कैसे हुआ? इस बारे में कई दंत कथाएं कही जाती हैं। इसलिए इस के उत्थान के बारे में सही जानकारी दे पाना संभव नहीं है। 'हेड हंटिंग' प्रथा में सैनिक अपने शत्रु का सर काट कर घर लाते थे और कटे हुए सर को जिसे आओ भाषा में 'मेंगको' कहा जाता है, शत्रु पर विजय के रूप में 'पुरस्कार चिन्ह' माना जाता है। असल में जो सैनिक जितने सर काट कर लाता था उसका शौर्य उतना ही बड़ा माना जाता था।

## लोक कथा

हर राज्य हर प्रांत की अपनी-अपनी कुछ लोक कथाएं या कहानियां लोकप्रिय होती हैं जिन्हे हम पढ़ते, सुनते और सुनाते हैं। आओ जनजाति की भी अपनी कुछ प्रचलित कथाएं हैं जिनमें से सबसे लोकप्रिय प्रेमकथा है एटिबेन और जीना नामक दो प्रेमियों की। जिसकी निशानियां आज भी नागालैंड के एक गांव में देखने और सुनने को मिलती हैं। कहा जाता है कि मोयुंगचुकेत जिले के मोरुंग (लड़कों का छात्रावास जिसमें वे जीवन चलाने के कौशल सीखते है) में जीना नाम का एक बहादुर युवा पुरुष रहता था। उसे संगीत का बहुत शौक था और वायलन का श्रेष्ठ वादक था। चूंकि वे बहुत गरीब परिवार से संबंध रखता था और वायलन लेने के पैसे नहीं थे उसके पास, इसलिए उसने एक सुखी लौकी से अपने लिए एक वाद्ययंत्र बना लिया जिसे बजाकर वह अपना व औरों का मनोरंजन करता। उसी गांव में एक बहुत धनी और खूबसूरत और लड़की एटिबेन रहती थी जिसे खुद को सोने-चांदी के गहनों से सजाना बहुत अच्छा लगता था। जब दोनों की मुलाकात हुई तो दोनों एक दूसरे की तरफ आकर्षित हो गए। विपरीत पारिवारिक स्थिती होने के बावजूद दोनों एक दूसरे के प्रेम में पड़ गए। दोनों अपने परिवारों के अन्तर को जानते थे और उन्हें पता था कि उनके परिवारवाले इस रिश्ते को कभी मंजूर नहीं करेगें। इसलिए दोनों मोपुंगचुकेट से बहुत दूर छुप छुपकर एक दूसरे से मिलते थे। दूर जंगलों की पगडंडियों पर घूमते, पत्थरों पर बैठकर जीना, एटिबेन को वायलन सुनाता और से उसकी मधुर धुनें सुनकर मदहोश हो जाती। कई बार दोनों चलते चलते दोयांग नदी की घाटी तक पहुंच जाते, लेकिन निश्चित समय पर अपने अपने घर पहुंचना न भूलते। कहा जाता है कि प्रेम और सुगंध छुपाए न छुपते हैं यही हुआ एटिबेन और जीना के साथ। उनके प्रेम की खुशबू उनके परिवार तक भी पहुंच ही गई। एटिबन के परिवार वालों ने दोनों से इस बारे में पूछा तो दोनों ने अपने प्यार पर सहमति जता दी। एटिबन धनी परिवार की होने के कारण सुख-सुविधा में पली-बड़ी थी। इसलिए उसके परिवार को

सन्देह था कि वह जीना के साथ गरीबी में नहीं रह पाएगी। उन दिनों की प्रथा के अनुसार लड़कों को लड़की के परिवार वालों को दहेज देना पड़ता था। इस प्रथा का प्रचलन इसलिए था कि लड़की के माता-पिता इस बात से आश्वस्त होना चाहते थे कि उनकी बेटी का भविष्य ससुराल में सुरक्षित है या नहीं। दहेज मे मिली संपत्ति लड़की के परिवार के सदस्य इस्तेमाल करते थे। अक्सर लड़के वाले दहेज के रूप में गाय, भेंस बकरी, घोड़ा. आदि देते। परंपरा के अनुसार एटिबेन के माता-पिता ने जीना से गाय और बैल दहेज के रूप में देने की मांग रखी। जिसको दे पाना जीना के लिए संभव न था। दहेज का सुनकर वो निराश हो गया। उसी गाँव में तेन्पूर नाम का एक धनवान जमींदार रहता था। वे एटिबेन की खूबसूरती का कायल था और उससे विवाह करना चाहता था। जैसे ही उसने एटिबेन के माता-पिता द्वारा दहेज की माँग का सुना। बिना समय नष्ट किए उसने झटपट एटिबेन के घर के बाहर खूब सारे मवेशियों को लेकर खड़ा कर दिया और अपनी धन संपदा लेकर उसके मातापिता से उसका हाथ मांगने पहुंच गया।

एक धनवान और खुबसूरत युवक को देखकर एटिबन के माता-पिता फूले न समाए और बिना बेटी की मन्जूरी के उन्होंने दोनों का रिश्ता पक्का कर दिया। एटिबेन बहुत नाराज़ हुई, रोई-गिड़गिड़ाई लेकिन कुछ फायदा न हुआ। उसने बहुत कोशिश की शादी टालने की। झूठी बीमारी का बहाना बनाकर कई दिनों तक बिस्तर पर पड़ी रही। लेकिन कुछ कामयाबी हासिल न हुई। और जब जीना की तरफ से भी कोई आशा की किरण दिखाई न दी तब निराश होकर उसे शादी के लिए हाँ करनी पड़ी। खूब शान-शौकत से ततेन्पूर और एटिबेन की शादी हो गई जीना बेचारा असहाय बन एटिबेन के लिए कुछ न कर सका और अपनी किस्मत को दोष देते हुए इस रिश्ते को स्वीकार कर बैठा। शादी के बाद एटिबेन का विवाहित जीवन अच्छा नहीं रहा। जीना एक सीदा साधा लड़का था जो केवल एटिबन से प्यार करता था जबकी उसके विपरित तेन्पूर एक मंझा हुआ व्यापारी था जिसने एटिबन की खूबसूरती के साथ उसकी अपार धन-संपदा को देखकर भी उससे शादी की थी। वह एटिबेन को पूर्णतया एक गृहणी के रूप में देखता था, केवल घर परिवार का काम करना और पति की सेवा करना ही जिसका काम था। एटिबेन एक खुले विचार के परिवार की लड़की थी जिसने घर में कैद होकर जीना नहीं सीखा था अतः तेन्पूर के साथ उसे घर में कैदी बनकर रहना अच्छा नहीं लगता था। घर में बंद रहकर, उसका दम घुटने लगा इसलिए जब तेन्पूर काम के सिलसिले से बाहर जाता तो वह भी घर से निकल जाती और जीना के साथ मिलना शुरू कर दिया उसने। दोनों फिर से प्रेम में डूबने लगे। लेकिन आखिर एक दिन तेन्पूर को उसके एक करीबी ने एटिबेन और जीना की मुलाकातों की खबर दे दी। इस बात का पता चलते ही तेन्पूर ने एटिबेन को बहुत मारा और गंभीर रूप से घायल कर उसे खेतों के पास लेजाकर अर्धमृत अवस्था में फेंक दिया। जब ये खबर जीना को पता चली तो वह एटिबेन को अपने घर ले आया और उसकी खूब देखभाल की। जीना अपने पति द्वारा मिले ज़ख्मों

की पीड़ा और तेन्पूर द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों का सोचकर हमेशा रोती रहती। जीना बड़े प्यार से उसकी सेवा करता और सदा उसे दिलासा देता। आखिर जीना की दिन-रात की सेवा भी काम न आई और एक दिन एटिबेन ने दम तोड़ दिया। जीना इस दुख को सहन न कर पाया। एटिबेन की याद में हर समय दुखी रहता। खाना-पीना तक त्याग दिया उसने और जल्द ही अवसाद का शिकार हो जल्द ही उसने भी अपने प्राण त्याग दिए। गांव वालों ने मिलकर दोनों का एक साथ अंतिम संस्कार किया। ऐसा कहा जाता है कि उनके संस्कार के समय ग्रामिणों ने उनकी जलती हुई चिताओं से एक उड़ती उठते धुएँ का एक अजीब सा गुच्छा आसमान की ओर उड़ते देखा था जो दो मानव आकृतियों के आकार जैसा था। ग्रामिणों का मानना है कि ऐसा लग रहा था जैसे एटिबेन और जीना एक दूसरे का हाथ पकड़ कर आकाश की ओर एक साथ उड़ गए थे। जो जीते जी एक न हो पाए वे मरकर एक हो गए थे। आज भी एक दुसरे को देखती आजोमो पुगचुकेत में दो गाँव मे, दो ऊंची मीनारें हैं जिनमें की गई नक्काशी में भी एटिबेन और जीना के प्रेम की कहानी बयां की गई है। इसके अलावा? प्रेमियों के नाम से जानी जाती है कई शिल्प कृतियों पर भी एटिबन और जीना की कला कृतियाँ उभरी हुई देखने को मिलती हैं।

19वीं शताब्दी के अंत में ईसाई धर्म के आगमन के साथ आओ जनजाति ने जीव बाद तथा उसके साथ जुड़ी प्रथाओं से स्वयं को मुक्त करना आरंभ कर दिया था। ईसाई धर्म को सबसे पहले आओ नागा लोगों ने ही स्वीकार किया और बाद में पूरे नागालैंड में भी फैलाया। इसलिए नागालैंड राज्य में ईसाई धर्म का और आधुनिक शिक्षा प्रणाली को प्रचलित करने का श्रेय देते हुए आओ जाति को अग्रदूत माना जाता है।

अंत में कहा जा सकता है कि नागालैंड की आओ जनजाति अति निडर, शौर्यवान एवं समय के अनुसार अपने को ढालने में सक्षम है। जहां प्राचीन काल में अपनी मातृभूमि और उसकी सभ्यता एवं संस्कृति की रक्षा हेतु ये अपने शत्रु का सर काट सकती थी वहीं समय के बदलाव के साथ ही पूर्णतया आधुनिकता, औद्योगिकरण एवं नवीनतम शिक्षा प्रणाली को अपनाकर अपने राज्य एवं देश के विकास की ओर अग्रसर हो रही है।

# कान खाऊ (काण खोवा) भक्ति और वात्सल्य का संयोग

**गीता लिम्बू**

सोलहवी शती के असमिया कवि श्रीधर कन्दली द्वारा ब्रजावली भाषा में रचित काव्य ₹काण खोवा₹ का रूपान्तरित शीर्षक है ₹कान खाऊ।₹ यह काव्य लोरी की शैली में रचित है और इसे असमिया भक्ति गीत ₹घोषा₹ की तर्ज पर गाया जाता है। बच्चों को सुलाने या चुप कराने के लिए बड़े, विशेष कर माताएँ धीमे-धीमे मीठे स्वर में जो गीत गाती हैं उन्हे 'लोरी' कहते हैं। माताएँ चाँद, तारे, फूल, पत्ते, जानवर, इंसान या किसी अलोकिक सुंदर या डरावने जीवों को लेकर अजीबो-गरीब कहानियाँ गढ़ती हैं जिनमें चंदा मामा होता है, पंखवाले घोडे आकाश की सैर कराते हैं इत्यादि इत्यादि। इन कहानियों को सुनकर शिशु कल्पना में खो जाते हैं और नींद उन्हें आगोश में ले लेती है। बच्चा अगर छोटा हो और कहानी को समझ पाने जैसी उम्र का ना हो तो भी एक ही लय में धीमे-धीमे गाते सुनकर अनायास ही शायद उसका मस्तिष्क ऊब जाता है या थक जाता है और बच्चा सो जाता है। कितने युगों से माताएँ 'लोरी' गाती आ रही हैं किसीको पता नहीं,शायद सृष्टि के प्रारंभ से ;क्यों कि 'लोरी' और वात्सल्य का सीधा सम्पर्क होता है। माता-पिता के स्नेह की अभिव्यक्ति के भाव को व्यक्त करने वाला रसको सामान्यतः वात्सल्य रस कहा जाता है। परंतु केवल माता पिता ही नहीं बड़ों का छोटों के प्रति जो अनुराग होता है वह भी वात्सल्य ही है। दादा-दादी, नाना-नानी का अपने पोते-पोती या नाती-नातिन के प्रति स्नेह भाव, बड़े भाई या बहन का अपने छोटे भाई-बहन के प्रति जो स्नेह भाव होता है वह भी वात्सल्य है। अपने परिवार का न होते हुए भी किसी बच्चे या अपने से छोटे के प्रति जो स्नेह उमड़ता है वह भी वात्सल्य है। और तो और पालतु जानवार के प्रति जो स्नेह होता वह भी वात्सल्य ही है। जब बात में बात वात्सल्य की आ जाती है तो वात्सल्य रस का सम्राट सूरदास की चर्चा अवश्य होती है और इसी क्रम में कृष्ण भक्ति, सगुणभक्ति, निर्गुणभक्ति भक्तियुग और उस युग के भक्त कवियों की भी थोड़ी चर्चा होना स्वाभाविक है।

विक्रम संवत 1375 से 1700 ( इस्वी 1318 से 1643 )तक का काल खंड हिंदी साहित्य इतिहास का पूर्वमध्य काल में पड़ता है जिसे 'भक्तिकाल' नाम से जाना जाता

है।14 वीं शती से 17वीं शती तक के कालखंडको हिंदी साहित्यका स्वर्णकाल माना जाता है। इसी काल खंड में सगुण और निर्गुण धाराओं के भक्त कवियों की रचनाओं ने हिंदी साहित्य को उर्वर किया और समृद्धि दी। 16वीं शती में भक्ति काव्य धारा में डुबकियाँ लगाकर

भारतके हिंदी साहित्य ही नहीं असमिया, बांग्ला, उड़िया,अवधी,कन्नड़,मराठी आदि भाषाके साहित्य की भी श्री बृद्धि हुई थी। सगुण भक्ति धारा में नर रूप में अवतरित भगवान श्रीराम और श्रीकृष्ण की लीला पर ढेरों काव्य की रचना हुई। वात्सल्य और माधुर्य इन रचनाओं की विशेषता रही।

वात्सल्य रस में सराबोर रामभक्त तुलसीदास की अनुपम रचना का उदाहरण–

"ठुमक चलत रामचंद्र, बाजत पैंजनिया।
किलकि किलकि उठत धाय, गिरत भूमि लटपटाय।
धाय मात गोद लेत, दशरथ की रनियाँ।।
अंचल रज अंग झारि, विविध भाँति सो दुलारी।
तन मन धन वारि-वारि, कहत मृदु बचनिया।।
विद्रुम से अरुण अधर, बोलत मूख मधुर मधुर।
सुभग नासिका में चारु, लटकत लटकनियाँ।।
तुलसीदास अति आनंद, देखके मुखारविंद
रघुवर छबि के समान, रघुवर छबि बनियाँ।।"

कृष्ण भक्त सूरदासको वात्सल्य रसका सम्राट कहा जाता है। उन्होने श्रीकृष्ण के बाल सौंदर्य के साथ बाल मनोविज्ञानिकता का वर्णन बड़ी तन्मयता और सहजता के साथ किया है। सूरदास कृत वात्सल्य का प्रत्येक पद बेजोड़ है, वर्णन जीवन्त तथा अति चित्ताकर्षक है।

"सिखावत चलत जसोदा मैया
अरबराय कर पानि गहावति,
डगमगाय धरै पैयाँ–"

इस पद में मैया जसोदा और बाल कृष्ण के बात्सल्य लीला का चित्र अति जीवन्त होकर आँखों के आगे ऐसे भासता है मानो मैया जसोदा अभी इस समय लला श्रीकृष्णको चलना सिखा रही हो और पांव डगमगाकर अरबराकर बालक कृष्ण माँ का हाथ पकड़ लेता है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल जी ने इस संदर्भ में कहा है–

"सूरदासने वात्सल्य का कोना कोना झाँक लिया है।"

अष्टछाप कवियों में से परमानंद दास ने वात्सल्य रस युक्त मीठे मीठे कृष्ण गान गाए–

एक बानगी प्रस्तुत है -

"माई मीठे हरि जू को बोलना
पाय पैंजनी रुनझुन बाजे,आंगन आंगन डोलना
काजर तिलक कंठ कचुला मन,
पीतांबर को चोलना
परमानंद दास की जीवनी
गोपी झूलावत झोलना।"

वात्सल्य रस का एकाध पद कृष्ण भक्त रसखान ने भी रचना की है जिसमें वात्सल्य का निरूपण भक्ति रस पूर्ण है।

सूरदास हो या अन्य जितने भी भक्त कवि हो जिन्होंने श्रीकृष्ण की बाल लीला का वर्णण किया है उन सभीने वात्सल्य के साथ साथ साभिप्राय भगवत महिमा भी गाया है, भक्तिपूर्वक वर्णन किया है।

सूरदास विरचित और एक काव्य जिसमें से वात्सल्य छलक छलक पड़ता है और साथ ही साथ कवि के हृदय से निसृत होकर भक्ति रस भी टपक रहा है–

"हरि पालन झूलावै"
जसोदा हरि पालन झूलावै
हलरावै, दुलरावै, मल्हावै, जोइसोई कछु गावै
मेरे लालको आवो निंदरिया, काहे नहीं आनि सुवावै
तु काहै नहीं वेगहि आवै तोकौ कान्ह बुलावै
कबहुं पलक हरि मुंदि लात है कबहु अधर फरकावै।
सोवत जानि मौन ह्वै कै रहि करि करि सैन बतावै
इहि अंतर अकुलाई उठे हरि जसुमति मधुर गावै।
जो सुख सूर नर मुनि दुरलभ सो नंद भामिनी पावै।

इसी तरह से 16वी शती के ही असमिया कृष्ण भक्त कवियों ने भी वात्सल्य पर सुंदर पदों की रचना की है।

महापुरुष श्रीश्रीमाधव देव विरचित "बरगीत" सुंदर शास्त्रीय प्रभाती गीत है जिसमें मैया जसोदा लाडला पुत्र श्रीकृष्णको जगाती है; परंतु पद के बोल पर ध्यान दें तो देखते हैं यशोदा ने अपने पुत्र को कमलापति अर्थात विष्णु कहकर सम्बोधन किया है–

"तेजरे कमला पति परभाते निंद
तेरी चांद मुख पेखु उठरे गोविंद"
------------------------

इस गीत की अंतिम दो पंक्तियों में श्री कृष्ण को त्रिजगत पति हरि का रूप माना है–

"कहय माधव माई किनो तपसाइला
त्रिजगत पति हरि राखोवाला।"

अर्थात-कवि पुछता है मा यशोदा ने ऐसी क्या तपस्या की जिसके फल स्वरुप उन्हे त्रिजगत पति हरि राखोवाला को पुत्र रूप में मिला।

माधव देवके बाद उसी शती के परवर्ती कवि श्रीधर कन्दली ने भी कृष्ण भक्ति पर आधारित "घुनुचा (उच्चारण-घुनुसा) कीर्तन" और "काण खोवा" दो काव्य कृतियों की रचना की। "काण खोवा" पूर्व से प्रचलित एक लोरी का किंवदंती काल्पनिक चरित्र है जिसे कवि श्रीधर कन्दली ने अपने काव्य में प्रवेश कराया। ढीठ बच्चों को सुलाने के लिए माताएँ ₹काण खोवा₹ जेसे भयानक जीवों को भी 'लोरी' में उपस्थित कराती हैं। ₹काण खोवा₹यह भयानक जीव को पता नहीं किस माँ ने किस युग में अपनी लोरी में चित्रित किया होगा जिसको किसीने नहीं देखा; परन्तु तब से असमिया लोरी में इसकी चर्चा होती आ रही है।

पूर्व से प्रचलित लोरी में ₹काण खोवा₹ का
असमिया मूल पाठ-
अ'इच अ'इच(अ'इस) अ चिछै(सिसै) पोवालि
लोणे माछे(मासे) भात खाई किकै खिनालि
₹अ रे काण खोवा नाहिबि राति
तोरे कान काटि लगामें बाति
अ'इच (अ'इस)अ'इच(अ'इस) ए काण खातिर पो
काण खोवा आहिचे(आहिसे)निझम दिशो।"
अर्थ-अ'इच अ'इच(अ'इस) अ चिछै का बच्चा
नमक-मछली के साथ भात खाकर भी तु कैसे दुबला गया
काण खोवा तु रात में न आना
तेरे कान काट कर बत्ती जलाएंगे।

काण खोवा का आधार लेकर पूरे काव्य की रचना हुई है और इसीलिए कवि माधव कन्दली ने अपने काव्य का शीर्षक "काण खोवा" रखा और काव्य की प्रस्तावना में कवि ने पूर्व प्रचलित लोरी को रखने के बाद अपनी रचना को इस तरह से प्रस्तुत किया है–

घोषा
घुमटि यायुरे(जायुरे) अरे कानाइ,
हुरे काण खोवा आसे
सकल शिशुर(हिहुर) काण खाई खाई
आसय तोमार पासे।

अर्थ–इस बंद में मैया यशोदा एक सामान्य माँ की तरह ही कृष्ण को लोरी गा कर सुलाने का प्रयास करती है और वह इस तरह गाती हे–

कानाइ तुम सो जाओ। सभी शिशुओं के कान खाते खाते काणखोवा अब तुम्हारे

पास आ रहा है।

यशोदा की बात सुन कर कृष्ण उत्सुक होकर माँ के पास जाकर पुछता है–

“मावर वचन शुनि(हुनि) पास चापि(सापि)
हासिया बोले कानाइ
केनेकुवा गोटे काण खाई फुरे
चिनोवा(सिनोवा) हारली आई
तार नाम शुनि(हुनि), घुमटि नासय,
डरे काम्पे मोर बुक।
देखिये लवड़ि पलाइबाक पारि
सत्वरे चिनोवा(सिनोवा)मोक।
अनादि स्वरूपे जगत स्त्रजिलोँ
चराचर(सरासर) भेद करि
समस्ते जगत, प्रतिपाल करि
आत्मा रूपे आछों(आसों)धरि
ब्रह्मा, महेश्वर, आदि करि यत(जय)
समस्ते मोर स्त्रजना
मइ न जानिलों, सितो(हितों) काण खोवा
स्त्रजिलेक कोन जना।”

अर्थ–माँ की बात सुन कर कृष्ण माँ के समीप जाकर हँसते हुए पुछते हैं-वह कान खाने वाला कैसा है? उसका नाम सुन कर डर से छात्ती कांपती है। नींद नहीं आती।

अनादि स्वरूप में मैंने जगत का सृजन किया। ब्रह्मा, महेश्वर आदि सबकुछ मेरा सृजन है, परन्तु काण खोवा को किसने सृजन किया मैं नहीं जान पाया।

इन पदों के माध्यम से कविने बड़े कौशल से अपने आराध्य श्रीकृष्ण को उन्ही के मुख से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड के सृष्टिकर्ता घोषित करवाया।

काव्य में श्री कृष्ण के मुख से ही सम्पूर्ण भागवत कथा का भी वर्णन करवाया है और साथ ही साथ श्रीकृष्ण लीला कथा का भी वर्णन करवाया है--

प्रथम ते मइ, अवतार भैलों
दिव्य मत्स्य रूप धरि
चारियो वेदक, पातालर हन्ते
आनिलो सांगे उद्धारि
पाछे(पासे)सेइ (हेइ)ठाय, बढाइ मत्स्याकाय,
युरिलो (जुरिलो) सागर(हागर) तीर
सियो काले मइ लाग न पाइलोहो,

काणखोवा केन वीर।
कुर्म्म रुपे मइ, मन्दर धरिलों
सागर (हागर) मथिबे लागि
यत (जत)जलचर, कल्कि सागर (हागर)
सकल (हकल) पलाइल भागि।।
कालकूट बिष, उच्‌चैश्रबा हय
लक्ष्मीयो बकाइला पाछे(पासे)
सियों (हियो) काले मइ लाग न पाइलोकों
काणखोवा करैत आछे (आसे)।

प्रथम अवतार मत्स्य रूप में मैंने पाताल से चारों वेदों को

उद्धार कर साथ लाया। उस अवतार में मेरे विशाल मत्स्याकाय शरीर से पूरे सागर आच्छादित हो गया था।

उस समय में मेरी काण खोवा से भेंट नहीं हुई।

कूर्म रूप लेकर जब मैंने सागर मंथन के लिए मंदर पर्वत को अपने उपर धारण किया तब उत्ताल सागर के खलकने से सभी जलचर भयातुर होकर भाग गए।।

कालकूट बिष,उच्चैश्रबा घोड़ा निकले,बाद में देवी लक्ष्मी भी निकलीं उस समय में भी काण खोवा से भेंट नहीं हुई।

इसी तरह से बराह, नृसिंह, वामन, परशुराम, राम, हलीराम, (बलराम) अवतारों की लीला वर्णन कर श्रीकृष्ण ने यशोदा मैया से कहा कि इतने अवतारों में से किसी भी अवतार में उन्होंने काण खोवा को कभी नहीं देखा न ही उसका नाम सूना। अब श्रीकृष्ण अवतार लेकर पहली बार मैया के मुख से उसका नाम सुनकर बहुत डर लग रहा है। कृष्ण मैया से कहते हैं कि जब मैया लोरी सुनाती हैं वे आँखें बंद कर लेते हैं लेकिन सो नहीं पाते। श्रीकृष्ण की बात सुनकर मैया को कुछ उत्तर नहीं मिलता और झूठ है रे कहते हुए गोद में लेकर स्तन मुह में लगा देती हैं। श्रीकृष्ण रुष्ट हो जाते हैं। यहाँ से कवि कन्दली ने बड़े कौशल पूर्वक श्री कृष्ण की लीला के साथ भागवत के शेष अवतारों और लीलाओं का समन्वय किया है। श्रीकृष्ण विष्णु का अवतार है।उनके प्रकृत माता-पिता देवकी वसुदेव हैं, राज घराने से हैं और मथुरा का राजा कंस उनका मामा है।परिचय के साथ कृष्ण का रूप वर्णन किया है। श्रीकृष्ण श्याम वर्ण के हैं और वंशीधर हैं।अब

ब्रज भूमि के सम्पन्न ग्वाल नन्द-यशोदा के घर में उनका पालन-पोषण हो रहा है और वे अन्य ग्वाल बाल के संग गैया चराने जाते हैं। ग्वालों और ग्वाल बालों के व्यस्तता पूर्ण दिन चर्या का वर्णन बड़ी चतुराई से किया गया है।

श्रीकृष्ण माँ से अभिमान करते हुए कहते हैं–

मेरे नाभि कमल से सृष्टि कर्ता ब्रह्मा का जन्म हुआ, जिस पावन गंगा को देवाधिदेव महादेव ने सिर पर धारण किया है उसकी धारा मेरे पांव के अंगूष्ठ के नाखून

छेदकर बही।

मैं आत्म रुप धरकर सम्पूर्ण जगत का पालन कर रहा हूँ। यज्ञ रूप लेकर मैंने स्वर्ग में इन्द्र पद सम्भाला और उपेन्द्र कहलाया। जगत कल्याण हेतु नर नारायण रुप में तप किया। ऐश्वर्या की देवी लक्ष्मी की पति हूँ मैं। मैंने पृथु अवतार लेकर सात पृथ्वी का राजा बनके प्रजा का पालन किया। इस युग में तुम्हें सुख देने हेतु पुत्र बनकर आया हूँ और तुम हो कि मुझ पर दही, मक्खन चोर कहकर आरोप लगाती हो। तुम्हारे घर में मुझे बासी भात मिलता है। भोर में जगाती हो और थोड़ा भोजन देकर गैया चराने भेजती हो। शीघ्रता में मैं वो भोजन भी पूरा खा नहीं पाता। भूख लगती है। धान्य मुष्टि देकर फल क्रय करके खाता हूँ। सूख कर कांटा हो गया हूँ।तपती गर्मी में गैया बछड़े के पीछे भागते भागते प्राण सूख जाता है तथापि तुम्हें मुझ बालक पर दया नहीं आती। बिना तेल के उलझे बालों पर धूल उड़ पड़ती, गन्दे बाल पसीने से चिपचिपे हो गए हैं। बाँस की बंशी बजाते बजाते होंठ फट कर रक्त निकलता है परन्तु मेरी सुध तुम लेती नहीं।

पिटारे में इतना सारा धन रखकर भूमि के नीचे गाढ़ कर छुपाती हो परन्तु मुझे एक सोने की वंशी दिलाती नहीं।

मोहिनी रूप धरके मैंने देव दानव सबको मोह लिया था और दानवों से अमृत कलश लेकर देवों को पिलाया था और तुम मेरे काले वर्ण पर उपहास करती हो और कलिया कहकर पुकारती हो।

ब्रह्मा का वाहन हंस अवतार लेकर आत्म तत्वज्ञान देकर ऋषियों-मुनियों का संशय दूर किया। सभी के साथ ब्रह्मा जी ने भी कर जोर कर प्रणाम किया। मैं ही ब्रह्मा का ज्ञान हूं। ब्रह्मा रूप में देवों को ज्ञान दिया।व्यास रूप में सबके हित के लिए वेद का विभाग किया और ज्ञान, कर्म, भक्ति, प्रवृत्ति, निवृत्ति का परिच्छेद किया है। वेद का रहस्य और भागवत धर्म को पुनः निबद्ध किया।

एक तुम ही हो मुझे मूर्ख समझतीं हो और मेरे साथ चतुराई कर रही हो। मैं देवकी माता के पास चला जाऊंगा। मेरे मामा कंस मथुरा का राजा है। वही मेरी सुध लेंगे।

मेरे जाने के बाद मुझे देखने के लिए तड़फराओगी। कृष्ण की बात सुनकर मैया कहती हैं,' ऐसी बात तु मतकर मेरे लाल। मेरी जी को न जला। इस बार के लिए इस अभागन को क्षमा कर दे वनमाली। दोबारा भूल न होगी; हो जाय तो गाली देना।' मैया का करुण वचन सुनकर श्री कृष्ण को संतोष हुआ। चारु दंत दिखाकर हँसते हुए उछल कर मैया की गोद में चढ़ गए और स्तन पान करने लगे। पुत्र का मनमोहक रूप देखकर यशोदा को ब्रह्माण्ड का सुख प्राप्त हुआ।

काव्य के अन्त में कृष्ण भक्त कवि ने पाठकों को सम्बोधित किया है और अपना उद्देश्य को प्रकट इस तरह किया है -

"शुना (हुना) सभासद, हुया निशबद( निशब्द)
शिशु (हिखु)गोविन्दर केलि

कृष्णर अरुण चरण पंकज,
 करिया मने सेवालि(हेवालि)।
श्रीधर कन्दली, कहे कृष्ण केलि
 कृष्णर भक्ति काम।
गुछुक(गुसुक) दुर्गति, मिलोक मुकुति,
 पूर्ण होकर मनस्काम।।
कृष्णर चरित्र, साक्षात अमृत
 पियो आक कर्ण भरि।
खण्डिबे आपद, मिलिबे सम्पदा(हम्पदा),
 डाकि बोला हरि हरि।।

हे सभासदों! कृष्ण भक्ति ही जिसका काम है वह श्रीधर कन्दली ने कृष्ण लीला कहा है आप सभी श्रीकृष्ण के अरुण चरण पंकज को स्मरण कर नमन करें और शिशु गोविन्द की लीला निशब्द होकर ध्यान लगाकर

सुनें। आप सभी की दूर्गति नाश हो, सभीको मुक्ति मिले और सभी की मनोकामना पूरी हो।

अमृत स्वरूप कृष्ण चरित्र को कर्ण से पिएं और 'हरि हरि'

बोलें तो विपत्ति कटेगी, सम्पदा मिलेगी।

कवि श्रीधर कन्दली ने अपने आराध्य श्रीकृष्ण का पावन नाम प्रचार हेतु अपनी रचना ₹काण खोवा₹ में वात्सल्य और भक्ति का सुंदर संयोजन किया है। यह छोटी सी काव्य पुस्तिका में श्रीकृष्ण की मनभावन बाल लीला,मैया यशोदा का वात्सल्य के साथ श्रीहरि विष्णु के सारे अवतारों का संक्षिप्त वर्णन अत्यंत सरस, रोचक है जिसे हम गागर में सागर भरना कह सकते हैं।

## ध्यातव्य

कोष्ठक के भीतर दिए गए शब्द संलग्न शब्द का असमिया उच्चारण है। असमिया भाषा में 'श,स,ष' का उच्चारण हिंदी या संस्कृत के उच्चारण से अलग तरीके से किया जाता है और स्थान अनुसार एक ही अक्षर का उच्चारण बदलता भी है। शब्द के आदि में ये तीनों वर्ण का उच्चारण हिंदी के 'ह' के समान होता है।

शब्द के बीच में इन्हे 'ख'के समान उच्चारण किया जाता है और अंत में हो तो इन्हे कभी 'ख' के जैसे तो कभी हिंदी के 'स' के जैसे उच्चारण किया जाता है।

संयुक्ताक्षर में हो तो इन तीनों वर्णों का उच्चारण संस्कृत या हिंदी भाषा मे जैसे उच्चारण किया जाता है उसी तरह किया जाता है।

उदाहरण–

'सकल शिशुर कान खाइ खाइ'' को उदाहरण में रखते हैं -

'सकल' शब्द का उच्चारण असमिया में 'हकल' होता है।

परंतु “ह” वर्ण के उच्चारण से किंचित कोमल होता है

कारण व्याकरण के सूत्र अनुसार जीभ का पिछला हिस्सा

कण्ठ को स्पर्श करता है और कण्ठ के ऊपरी भाग के रिक्त स्थान से फेफड़े से निकली वायु तालु को स्पर्श करती है तब “ह” का उच्चारण होता है जबकि “स” को “है” की तरह उच्चारण करते समय वायु कण्ठ को स्पर्श कर सीधे दांतों के पिछले हिस्से को स्पर्श करती है। इसी कारण “ह” की तरह उच्चारण होते हुए भी असमिया व्याकरण के

अनुसार भी “स” दंत्य वर्ण है।

इसी तरह “शिशुर” शब्द के पहला 'श' “ह” की तरह उच्चारित होता है पर वायु अल्प मात्रा में ही तालु को स्पर्श करती है इसीलिए “ह” का उच्चारण यँहा कोमल होता है। इसी तरह 'वर्णो' के बीच के “शु” “खु” उच्चारित होता है किन्तु इस समय जीभ का मध्य भाग तालु को अल्प मात्रा में स्पर्श करता है। इसी कारण 'श' असमिया में भी तालव्य है।

शब्द के अंत में–'उनैश' (उन्नीस), बिश (बीस) शब्द के 'श' का उच्चारण हिंदी के 'स' जैसे किया जाता है परंतु बिष (दर्द) में 'ष' का उच्चारण 'ख' होता है।

संयुक्ताक्षर में इन तीनों वर्णों को हिंदी के 'स' जैसे उच्चारण किया जाता है। – मस्या, ऊष्मा, कष्ट विश्लेषण आदि। विश्लेषण शब्द का संयुक्ताक्षर 'श्ल' का उच्चारण हिंदी के “स” के समान होता है परंतु 'ष' को 'ख' के जैसे उच्चारण किया जाता है।

'च, छ' यद्यपि तालव्य वर्ण हैं परन्तु इनका का उच्चारण हिंदी के 'स' जैसे किया जाता है। चाउल (साउल)। इसका का अर्थ हिंदी में चावल। छल का उच्चारण (सल)।

# हिंदी की निषेधात्मक शब्द रचना

**डॉ. चन्दन सिंह**

भारतीय व्याकरण सिद्धांत में 'शब्द' को एक व्याकरणिक इकाई के रूप में स्वीकार किया गया है, यह व्याकरण का केंद्र बिंदु है। इसकी रचना के विभिन्न रूपों पर ही व्याकरण की संपूर्ण नियम, व्यवस्था आधारित होती है। वाक्य रूपी व्याकरणिक इकाई के घटक के रूप में यह विभिन्न व्याकरणिक कोटियों का प्रतिनिधित्व करता है। व्याकरणिक इकाई के साथ-साथ शब्द एक भाषिक इकाई के रूप में भी स्थापित है। मनुष्य अपने भावों, विचारों एवं क्रिया-कलापों को विविध भाषिक प्रतिमानों के माध्यम से व्यक्त करता है, शब्द इन्हीं भाषिक प्रतिमानों में से एक होने के कारण एक भाषिक इकाई के रूप में भाषा विज्ञान में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। जैसा कि रवींद्र नाथ श्रीवास्तव ने भी शब्द : अध्ययन और समस्याएँ (पृष्ठ–49) में कहा है कि ''शब्द भाषा की सर्जनात्मक बुनावट की आधारभूत सामग्री है, क्योंकि शब्द भाषा के वे पूर्व निर्मित तत्व हैं, जिनके आधार पर क्रमशः बड़े भाषिक खण्ड (पदबंध, उपवाक्य, वाक्य आदि) निर्मित होते हैं। व्याकरण और कुछ नहीं बल्कि इन भाषिक खण्डों की बुनावट प्रक्रिया और उनके संरचना विधान के अध्ययन का नाम है।'' 1 चूकि वक्ता वाक्य के माध्यम से ही अपने भावों या विचारों को व्यक्त करता है और वाक्य की निर्मिति शब्द से ही होती है अतः इस आधार पर शब्द को भाषिक इकाई स्वीकार करना समीचीन प्रतीत होता है। उपर्युक्त भाषिक खण्ड की तरह शब्द में भी बुनावट के लक्षण दिखायी देते हैं। बुनावट प्रक्रिया के परिणाम स्वरूप ही व्युत्पन्न शब्द प्राप्त होते हैं। इस प्रक्रिया में धातु या प्रातिपदिक के साथ उपसर्ग एवं प्रत्यय का योग होता है, फलस्वरूप नवीन शब्द की प्राप्ति होती है। जुड़ने वाले उपसर्ग एवं प्रत्यय की प्रकृति के आधार पर निर्मित शब्द निषेधात्मक या सकारात्मक हो सकते हैं। यद्यपि उपसर्ग एवं प्रत्यय आबद्ध होते हैं अर्थात् अर्थ की दृष्टि से उनकी स्वतंत्र सत्ता नहीं होती किंतु कभी-कभी ये न केवल मूल शब्द के अर्थ बल्कि उसकी व्याकरणिक कोटि के परिवर्तन के लिए भी उत्तरदायी होते हैं। इसी प्रक्रिया के फलस्वरूप निषेधात्मक शब्द की प्राप्ति होती है। इस संदर्भ में प्रयुक्त उपसर्ग एवं प्रत्यय निम्नवत् हैं–

प्रयुक्त उपसर्ग-अ-, अन-, अप-, कु-, दु-, नि-, परा-, प्रति-, वि-इत्यादि।

प्रयुक्त प्रत्यय--अक, -ओर इत्यादि।

व्युत्पादन प्रक्रिया-

1. धातु या प्रातिपदिक के साथ उपसर्ग के योग से व्युत्पादन की प्रक्रिया को सारणी रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है-

71अ-' उपसर्ग-

क्रमांक उपसर्ग धातु/प्रातिपदिक व्या. कोटि व्युत्पादित शब्द व्या. कोटि

अ-जय संज्ञा अजय संज्ञा

नाम संज्ञा अनाम विशेषण

चपल विशेषण अचपल विशेषण

टल क्रिया अटल विशेषण

सारणी (1.1)

सारणी (1.1) से स्पष्ट है कि 'अ-' उपसर्ग संज्ञा के साथ जुड़कर संज्ञा तथा विशेषण व्युत्पन्न करता है एवं विशेषण तथा क्रिया के साथ जुड़कर विशेषण व्युत्पन्न करता है अर्थात 'अ-' उपसर्ग संज्ञा एवं विशेषण व्याकरणिक कोटि के निषेधात्मक शब्दों को व्युत्पन्न करता है।

'अन-' उपसर्ग-

क्रमांक उपसर्ग धातु/प्रातिपदिक व्या. कोटि व्युत्पादित शब्द व्या. कोटि

अन-अभ्यास संज्ञा अनभ्यास संज्ञा

बन क्रिया अनबन संज्ञा

बोल संज्ञा अनबोल विशेषण

आक्रांत विशेषण अनाक्रांत विशेषण

पढ़ क्रिया अनपढ़ विशेषण

एकत्र क्रियाविशेषण अनेकत्र क्रियाविशेषण

सारणी (1.2)

सारणी (1.2) के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि 'अन-' उपसर्ग संज्ञा एवं क्रिया के साथ जुडकर संज्ञा एवं विशेषण व्युत्पन्न करता है जबकि विशेषण के साथ जुड़कर विशेषण एवं क्रियाविशेषण के साथ जुड़कर क्रियाविशेषण व्युत्पन्न करता है।

'अप-' उपसर्ग-

क्रमांक उपसर्ग धातु/प्रातिपदिक व्या. कोटि व्युत्पादित शब्द व्या. कोटि

1. अप-गुण संज्ञा अपगुण संज्ञा
2. धूम संज्ञा अपधूम विशेषण
3. नीत विशेषण अपनीत विशेषण

सारणी (1.3)

सारणी (1.3) के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि 'अप-' उपसर्ग संज्ञा के साथ जुडकर संज्ञा एवं विशेषण व्युत्पन्न करता है जबकि विशेषण के साथ जुड़कर विशेषण व्युत्पन्न करता है।

'कु-' उपसर्ग-

क्रमांक उपसर्ग धातु/प्रातिपदिक व्या. कोटि व्युत्पादित शब्द व्या. कोटि

1.कु-कर्म संज्ञा कुकर्म संज्ञा

2. रूप संज्ञा कुरूप विशेषण

3. ख्यात विशेषण कुख्यात विशेषण

4. पढ़ क्रिया कुपढ़ विशेषण

सारणी (1.4)

सारणी (1.4) के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि 'कु-' उपसर्ग विशेषण एवं क्रिया के साथ जुड़कर विशेषण व्युत्पन्न करता है तथा संज्ञा के साथ जुडकर संज्ञा एवं विशेषण दोनों व्याकरणिक कोटि के निषेधात्मक शब्दों को व्युत्पन्न करता है।

'दु-' उपसर्ग-क्रमांक उपसर्ग धातु/प्रातिपदिक व्या. कोटि व्युत्पादित शब्द व्या. कोटि

1.दु-काल संज्ञा दुकाल संज्ञा

2. मन संज्ञा दुमन विशेषण

3. सह क्रिया दुसह विशेषण

सारणी (1.5)

सारणी (1.5) के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि 'दु-' उपसर्ग क्रिया के साथ जुड़कर विशेषण व्युत्पन्न करता है तथा संज्ञा के साथ जुडकर संज्ञा एवं विशेषण दोनों व्याकरणिक कोटि के निषेधात्मक शब्दों को व्युत्पन्न करता है।

'नि-' उपसर्ग-क्रमांक उपसर्ग धातु/प्रातिपदिक व्या. कोटि व्युत्पादित शब्द व्या. कोटि

1.नि-श्रम संज्ञा निश्रम संज्ञा

2. संशय संज्ञा निसंशय विशेषण

3. खोट संज्ञा निखोट क्रियाविशेषण

4. वर्तमान विशेषण निवर्तमान विशेषण

5. खर्चे क्रियाविशेषण निखर्चे क्रियाविशेषण

सारणी (1.6)

सारणी (1.6) के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि 'नि-' उपसर्ग संज्ञा के साथ जुड़कर संज्ञा, विशेषण एवं क्रियाविशेषण व्युत्पन्न करता है तथा विशेषण एवं क्रियाविशेषण के साथ जुडकर क्रमशः विशेषण एवं क्रियाविशेषण व्याकरणिक कोटि के निषेधात्मक शब्दों को व्युत्पन्न करता है।

'परा-' उपसर्ग-क्रमांक उपसर्ग धातु/प्रातिपदिक व्या. कोटि व्युत्पादित शब्द व्या. कोटि

1. परा-जय संज्ञा पराजय संज्ञा

2. मृत विशेषण परामृत विशेषण

सारणी (1.7)

सारणी (1.7) के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि 'परा-' उपसर्ग संज्ञा के साथ जुड़कर संज्ञा एवं विशेषण के साथ जुडकर विशेषण व्याकरणिक कोटि के निषेधात्मक शब्दों को व्युत्पन्न करता है। 'प्रति-' उपसर्ग-क्रमांक उपसर्ग धातु/प्रातिपदिक व्या. कोटि व्युत्पादित शब्द व्या. कोटि

1.प्रति-पक्ष संज्ञा प्रतिपक्ष संज्ञा

2. कार्य संज्ञा प्रतिकार्य विशेषण

3. गत विशेषण प्रतिगत विशेषण

सारणी (1.8)

सारणी (1.8) के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि 'प्रति-' उपसर्ग संज्ञा के साथ जुड़कर संज्ञा एवं विशेषण तथा विशेषण के साथ जुडकर विशेषण व्याकरणिक कोटि के निषेधात्मक शब्दों को व्युत्पन्न करता है। 'वि-' उपसर्ग-क्रमांक उपसर्ग धातु/प्रातिपदिक व्या. कोटि व्युत्पादित शब्द व्या. कोटि

1.वि-कर्म संज्ञा विकर्म संज्ञा

2. गुण संज्ञा विगुण विशेषण

3. कृत विशेषण विकृत विशेषण

4. लग क्रिया विलग विशेषण

सारणी (1.9)

सारणी (1.9) के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि 'वि-' उपसर्ग विशेषण एवं क्रिया के साथ जुड़कर विशेषण व्युत्पन्न करता है तथा संज्ञा के साथ जुडकर संज्ञा एवं विशेषण दोनों व्याकरणिक कोटि के निषेधात्मक शब्दों को व्युत्पन्न करता है।

2. धातु या प्रातिपदिक के साथ प्रत्यय के योग से व्युत्पादन की प्रक्रिया को सूत्र रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है-क्रमांक प्रत्यय धातु/प्रातिपदिक व्या. कोटि व्युत्पादित शब्द व्या. कोटि

1 -अक अट क्रिया अटक संज्ञा

2 -ओर बाँट क्रिया बटोर संज्ञा

सारणी (2.1)

सारणी (2.1) के विश्लेषण से स्पष्ट है कि '-अक' और '-ओर' प्रत्यय क्रिया के साथ जुड़कर निषेधात्मक प्रकृति की संज्ञा को व्युत्पन्न करते हैं।

निष्कर्ष-उपर्युक्त सारणियों का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि हिंदी

निषेधात्मक शब्द रचना के संदर्भ में उपसर्गों की भूमिका निम्नवत् है-

व्या. कोटि-1 व्या. कोटि-2 प्रयुक्त उपसर्ग

संज्ञा संज्ञा अ-, अन-, अप-, कु-, दु-, नि-, परा-, प्रति-, वि-

संज्ञा विशेषण अ-, अन-, अप-, कु-, दु-, नि-, प्रति-, वि-

विशेषण विशेषण अ-, अन-, अप-, कु-, नि-, परा-, प्रति-, वि-

क्रिया विशेषण अ-, अन-, कु-, दु-, वि-

क्रियाविशेषण क्रियाविशेषण अन-, नि-

क्रिया संज्ञा अन-

संज्ञा क्रियाविशेषण नि-

सारणी (3.1)

स्पष्ट है कि-हिंदी निषेधात्मक शब्द रचना के संदर्भ में 'अन-' उपसर्ग का विस्तार क्षेत्र अन्य उपसर्गों की तुलना में अधिक है, इसे नीचे प्रस्तुत चार्ट के माध्यम से भी देखा जा सकता है। उपर्युक्त उपसर्ग विशेषण अथवा क्रियाविशेषण के साथ युक्त होकर संज्ञा (निषेधात्मक) का व्युत्पादन नहीं करते। प्रत्यय प्रयोग के द्वारा निषेधात्मक शब्द निर्मिति की संभावना अपेक्षाकृत कम है।

अन्-अ-अप-कु-दु-नि-परा-प्रति-वि-

संकेत चिह्न-

व्या. कोटि = व्याकरणिक कोटि

व्या. कोटि-1 = मूल शब्द की व्याकरणिक कोटि

व्या. कोटि-2 = व्युत्पन्न शब्द की व्याकरणिक कोटि

**संदर्भ ग्रंथ-**


1. सुरेश कुमार (सम्पादक), शब्द : अध्ययन और समस्याएँ, (1990), केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा।
2. लक्ष्मण प्रसाद सिन्हा : हिंदी भाषा का रूपिमीय विश्लेषण, (1983),पटना, अंशुकमल प्रकाशन।
3. डॉ मुरारीलाल उप्रेती : हिंदी में प्रत्यय एवं पश्चाश्रयी-विचार,(2009), दिल्ली, आलेख प्रकाशन।
4. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव : हिंदी भाषा संरचना के विविध आयाम, (2008), दिल्ली, राधाकृष्ण प्रकाशक प्राइवेट लिमिटेड।

# पूर्वोतर में बोलचाल एवं शिक्षण में हिंदी का प्रसार

## (नागालैंड के विशेष सन्दर्भ में)

**डॉ. चन्द्रशेखर चौबे**

वृहद् असम समेत पूर्वोतर का संबंध शेष भारत के साथ चिर काल से रहा है, पौराणिक-ऐतिहासिक कथाएँ, घटनाएँ एवं साक्ष्य इस बात के प्रमाण हैं। रामायण काल में मर्यादा पुरुषोतम राम के गुरु वशिष्ठ असम के ही रहने वाले थे जिनके नाम से आज भी गुवाहाटी में वशिष्ठ आश्रम स्थान एवं मंदिर विद्यमान हैं। कहा जाता है कि महाभारत के समय भीम भी यहाँ आए थे। उसी समय उन्होंने मणिपुर की 'हिडिम्बा' से विवाह किया था जिससे उन्हें घटोत्कच नामक पुत्र की प्राप्ति हुई जिसका पराक्रम महाभारत में वर्णित है। असम की कार्बी-आंगलांग जनजाति अपना पूर्वज सुग्रीव को मानती है तो बोडो जनजाति खुद को ब्रम्हा का वंशज मानती है। म्यामार से सटा हुआ भारतीय जिला उखरुल का असली नाम उलूपीकुल है जिसका सम्बन्ध अर्जुन की पत्नी उलूपी से माना जाता है। इतना ही नहीं मणिपुर का मैतेई समाज आज भी वहां आबादी में दस फीसद है जो कि स्वयं को अर्जुन के ससुराल पक्ष का मानता है और कृष्ण को अपना दामाद मानता है। अर्जुन की पत्नी चित्रांगदा मणिपुर की थी। महाभारत में भी अर्जुन और कृष्ण का संबंध फूफेरे भाई का है। अरुणाचल प्रदेश के लोहित जिले में हिन्दुओं का एक प्रमुख तीर्थ स्थल परशुराम कुंड स्थित है। श्रीमंत शंकरदेव जिन्हें असमिया जाति, सभ्यता व संस्कृति का प्राणतत्व माना जाता है उनके भी पूर्वज उतर प्रदेश के कन्नौज से आकार असम में बसे थे। असमिया फ़िल्म के पितामह ज्योति प्रसाद अग्रवाला के पूर्वज भी राजस्थान के 'केड' से आए थे। वस्तुतः पूर्वोतर के प्रत्येक राज्य में अनेक जनजातियों के साथ-साथ विविध जातियों, धर्मों एवं संप्रदाय के लोग सदियों से निवास करते आ रहे हैं। इसके साथ ही रोजगार एवं अन्य कारणों से समय-समय पर शेष भारत विशेषकर मध्य भारत से अनेक जातियों के लोग पूर्वोत्तर के अनेक राज्यों में आकर बसते गए। इस प्रकार पूर्वोत्तर भारत अपने आप में एक लघु भारत का रूप लेता गया।

वर्त्तमान भौगोलिक परिदृश्य पर नजर डालें तो स्वतंत्रता के पश्चात शेष भारत की भांति क्रमशः पूर्वोतर में भी नए-नए राज्यों का पुनर्गठन हुआ। वर्तमान में पूर्वोत्तर में कुल आठ राज्य आते हैं जिनमें असम, अरुणाचल प्रदेश, मेघालय, मणिपुर, मिजोरम,

नागालैंड एवं त्रिपुरा को सात बहनों तथा सिक्किम को उनके एक भाई के रूप में जाना जाता है। पूर्वोत्तर के इन आठों राज्यों में भाषा, संस्कृति, रीति-रिवाज, आचार-विचार, रहन-सहन, भेष-भूषा, खान-पान, हस्त-शिल्प आदि के स्तर पर विविधता के साथ-साथ बहुलता भी है। आज यह क्षेत्र शेष भारत क्या विदेशी सैलानियों के लिए भी न तो अपरिचित है, न अछूता है और न ही अगम्य है। देशी-विदेशी लाखों सैलानी वर्ष भर पूर्वोत्तर भारत की सैर पर आते रहते हैं। आवागमन एवं संचार-साधनों के तीव्र विकास एवं बेहतर सुविधाओं के कारण पूर्वोत्तर भारत धीरे-धीरे पर्यटन एवं व्यवसाय की दृष्टि से नए रूप में उभर रहा है। बाहरी सैलानियों के लिए तो समूचे पूर्वोत्तर में हिंदी संपर्क भाषा के रूप में विकसित एवं प्रचलित हो गई है साथ ही पूर्वोत्तर के राज्यों के बीच भी यह संपर्क भाषा का कार्य कर रही है। पूर्वोत्तर के सभी राज्यों में शिक्षा, प्रशासन, संपर्क, संचार एवं व्यापार के क्षेत्र में हिंदी की स्थिति समान नहीं है किन्तु पूर्वोत्तर के एक राज्य के लोग जब पूर्वोत्तर के किसी दूसरे राज्य में जाते हैं तो वे बोल-चाल एवं कार्य-व्यापार के लिए अब हिंदी का प्रयोग सहजता के साथ करते हैं।

पूर्वोत्तर के आठों राज्यों में भाषा की दृष्टि से भी विविधता और बहुलता है। पूर्वोत्तर में जनजातीय भाषाओँ की बहुलता का एक बड़ा कारण वनों से आच्छादित दुर्गम पहाड़ी क्षेत्र में बसे जनजातीय समुदायों का आपस में कम मेल-मिलाप रहा होगा। संभवतः इसी कारण यहाँ बड़ी संख्या में भाषाओँ एवं बोलियों का विकास हुआ। जैसे-जैसे आवागमन सुगम होता गया, विभिन्न जातियों-उपजातियों के बीच संवाद के लिए संपर्क भाषा का भी विकास हुआ। वर्तमान में पूर्वोतर में लगभग 100 से अधिक भाषाएँ और बोलियाँ प्रचलित हैं। इस कारण इस अंचल को 'भाषाओँ की प्रयोगशाला' कहा जाता है। इनमें से 60 भाषाओं के बोलनेवालों की संख्या 10,000 से अधिक है। भारत में चार भाषा परिवारों की भाषाएँ बोली जाती हैं। इनमें से तीन भाषा परिवार – आर्य भाषा परिवार, चीनी-तिब्बती भाषा परिवार एवं आस्ट्रो-एशियाटिक भाषा परिवार की भाषाएँ पूर्वोत्तर के विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित हैं। भारतीय संविधान की आठवीं अनुसूची में 22 भाषाएँ स्वीकृत हैं। पूर्वोत्तर में असमिया, बांग्ला तथा नेपाली को छोड़कर अधिकांश राज्यों की जनजातीय भाषाएँ चीनी-तिब्बती परिवार के तिब्बती-बर्मी समूह के भीतर परिगणित की जाती हैं। इनमें से अब तक केवल बोड़ो और मणिपुरी को ही आठवीं अनुसूची में स्थान मिल पाया है।

संपर्क भाषा की दृष्टि से विचार यदि देखा जाए तो पूर्वोत्तर में हिंदी के प्रचार-प्रसार से पहले असमिया और बांग्ला यहाँ संपर्क भाषा के रूप में प्रचलित रही है इसके साथ ही असमिया एवं बांग्ला लिपि का प्रसार भी लम्बे समय तक पूर्वोत्तर में रहा है। ईसाई मिशनरियों, चर्च एवं अंग्रेजी शिक्षा आने के बाद पूर्वोत्तर में बहुत वृहद् स्तर पर धार्मिक एवं भाषाई परिवर्तन होता है। ब्रिटीश शासन में अंग्रेजी शेष भारत के साथ-साथ समूचे पूर्वोत्तर में भी राजकीय भाषा के रूप में स्थापित एवं प्रचलित होती है। अंग्रेजी के प्रभाव

एवं दबाव में उन जनजातीय भाषाओँ को भी रोमन लिपि में लिखा जाने लगता है जिनकी अपनी कोई लिपि नहीं थी या विस्मृत हो चुकी थी। इसके बावजूद सामान्य व्यवहार में यहाँ अंग्रेजी संपर्क भाषा नहीं बन पाई। हिंदी के साथ असम में असमिया, त्रिपुरा में त्रिपुरी और बांग्ला, मेघालय में गारो और खासी, नागालैंड में नगामीज, मणिपुर में मैतेई एवं कुकी, मिजोरम में मिजो, सिक्कीम में भूटिया, लेपचा तथा नेपाली एवं अरुणाचल में अरुणाचली हिंदी संपर्क भाषा के रूप में कार्य कर रही हैं।

पूर्वोतर के राज्यों में असम में बोलचाल यानि संपर्क भाषा के रूप में हिंदी की स्थिति पर यदि हम विचार करें तो असमिया और हिंदी के बीच शाब्दिक समानता के कारण दोनों भाषा-भाषी समुदाय एक-दूसरे के साथ वाचिक स्तर पर कमोबेश संपर्क स्थापित कर लेते हैं। असमिया में हिंदी की अपेक्षा मूल संस्कृत के तत्सम शब्दों की बहुलता है जबकि हिंदी में अपेक्षाकृत उनके तद्भव रूप का प्रचलन आज अधिक हो रहा है। असमिया वाक्य स्तर पर हिंदी की तुलना में संयोगात्मक अधिक है जबकि हिंदी वियोगात्मक अधिक है। बांग्ला, मैथिली, उड़िया और नेपाली से असमिया का निकट का संबंध है। इन सब कारणों से असमिया भाषा-भाषियों के लिए हिंदी कोई अपरिचित या अबूझ भाषा कभी नहीं रही तथा हिंदी भाषा-भाषी भी असमिया समझ लेते हैं। अरूणाचल प्रदेश में हिंदी की प्रगति शेष अन्य राज्यों की तुलना में सर्वाधिक हुई है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि जनजातीय भाषाओँ की बहुलता के कारण अरुणाचली लोगों ने आपसी संपर्क, संबंध एवं कार्य-व्यापार के लिए हिंदी को सहजता के साथ अपना लिया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा कि आज अरुणाचल प्रदेश का प्रायः हर व्यक्ति हिंदी समझता तो है ही, टूटी-फूटी हिंदी अवश्य बोल लेता है। इसके बाद मेरी दृष्टि में क्रमशः सिक्किम एवं असम राज्य आते हैं जहाँ हिंदी का प्रयोग सर्वाधिक होता है। सिक्किम में हिंदी के विकास एवं प्रसार के दो कारण हैं, एक नेपाली भाषा-भाषी समुदाय की बहुलता एवं दूसरा बाहरी प्रदेशों- बंगाल, बिहार, झारखंड आदि प्रान्तों से नौकरीपेशा वर्ग एवं हिंदी भाषियों का आगमन, निवास एवं व्यवसाय के साथ-साथ सैलानियों एवं पर्यटकों का आगमन। हम जानते हैं कि नेपाली एवं हिंदी भाषा में बहुतायत शब्द समान रूप से व्यवहृत होते है साथ ही दोनों भाषाओँ की लिपि भी देवनागरी है। इस कारण दोनों भाषा-भाषी लोग एक दूसरे की भाषाओँ को समझ लेते हैं और अधिकांश बोल भी लेते हैं। पर्यटन की दृष्टि से मेघालय एवं त्रिपुरा में भी हिंदी का प्रसार तेजी से हो रहा है। नागालैंड की अपेक्षा मणिपुर एवं मिजोरम में हिंदी के प्रसार की स्थिति थोड़ी धीमी है। आज मध्य भारत के हिंदी भाषा-भाषी राज्यों से उच्च व्यवसायी वर्ग के साथ-साथ एक बड़ी आबादी कामगार वर्ग, श्रमिक एवं लघु व्यवसायी के रूप में कमोबेश पूर्वोत्तर के सभी राज्यों की अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने में रीढ़ की हड्डी के रूप में अपना योगदान दे रहे हैं। कहना न होगा कि यह वर्ग अपने काम-काज के साथ-साथ हिंदी भाषा को भी जन-जन तक फैलाने का कार्य कर रहा है।

जहाँ तक नागालैंड में बोलचाल के रूप में हिंदी के विकास का प्रश्न है, यहाँ हिंदी के आरंभ, विकास एवं प्रचार-प्रसार का कार्य बेहद कठिन एवं चुनौतीपूर्ण रहा है। नागालैंड की लगभग समूची जनजातियों के ईसाईकरण के कारण यहाँ लम्बे समय तक हिंदी व हिन्दू समाज के प्रति दुष्प्रचार और भ्रम की स्थिति बनी रही। पूरे नागा समाज में यह भ्रम प्रचलित किया गया कि हिंदी पढने से हिन्दू धर्म अपनाना पड़ेगा। हिन्दू की परिभाषा भी बड़ी भ्रामक बताई जाती थी जिससे नागा समाज में यह भ्रम हो गया कि हिन्दू लोग ईसाई नागाओं के जानलेवा शत्रु हैं। इस भ्रम एवं दुष्प्रचार के कारण नागा समाज लम्बे समय तक हिंदी भाषा का विरोध करता रहा। यहाँ बढ़ते उग्रवाद ने आग में घी का काम किया। नागालैंड को भारत से अलग स्वायत्तता एवं स्वतंत्रता देने की मांग भी समय-समय पर उग्र रूप लेती रही। लेकिन नागालैंड में जैसे-जैसे शिक्षा, जागरूकता, आवागमन एवं संचार साधनों का विकास, मीडिया, इंटरनेट एवं रोजगार तथा व्यावसायिक गतिविधियों में अभिवृद्धि हुई, पड़ोसी राज्यों एवं शेष भारत के साथ संपर्क बढ़ा, शिक्षा, रोजगार एवं व्यवसाय के लिए नागा लोग बाहर के राज्यों में जाने लगे तब उन्हें महसूस हुआ कि हिंदी जाने बिना नागालैंड से बाहर संवाद, संपर्क बनाना एवं टिक पाना मुश्किल होगा। पढ़े-लिखे वर्ग ने धीरे-धीरे हिंदी सीखने में रुचि लेना शुरू किया एवं भावी पीढी को हिंदी पढने एवं सीखने के लिए प्रेरित किया। नागालैंड राज्य सरकार के साथ-साथ हिंदी प्रेमी नागाओं एवं हिंदी प्रचारक संस्थाओं ने नागालैंड में हिंदी भाषा शिक्षण एवं हिंदी पढ़ने वाले छात्रों के लिए प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तथा रोजगार की व्यवस्था की। तात्पर्य यह कि पूर्वोत्तर के राज्यों में नागालैंड में हिंदी के प्रचार-प्रसार का कार्य अपेक्षाकृत बाद में आरंभ हुआ। सबसे पहले 1954 ई. में नागालैंड के चुचइम्लांग में स्थित गांधी आश्रम के व्यवस्थापक श्री नटवरभाई ठक्कर ने आचार्य काकासाहब कालेलकर के कहने पर नागालैंड के पाँच भाई-बहनों को हिंदी सीखने के लिए राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा भेजा। इन पाँचों विद्यार्थियों ने समिति की परिचय परीक्षा दो साल में ही उत्तीर्ण कर ली। वापस नागालैंड आकर इन लोगों ने हिंदी का प्रचार कार्य शुरू किया। इस प्रकार नागालैंड में हिंदी का प्रसार आरंभ हुआ। जिन पाँच नागाओं ने पहली बार नागालैंड से बाहर हिंदी प्रदेश में जाकर हिंदी सीखने का साहस जुटाया उनके नाम हैं – लिङ तोम्बा, तुषीबा, तकोबा, कु. रोंङसनला एवं कु. अनङगला। 1963 में स्वतंत्र राज्य बनने से पहले जब नागालैंड असम राज्य का हिस्सा था तब नागालैंड के कुछ माध्यमिक विद्यालयों में हिंदी को एक वैकल्पिक विषय के रूप में पढ़ाने की व्यवस्था थी। उस समय हिंदी शिक्षकों का मिलना मुश्किल था इसलिए प्रायः भारतीय सेना के सेवानिवृत नागा लोगों को ही हिंदी शिक्षण का कार्य दिया जाता था। स्वतंत्र राज्य बनने के बाद भी सबसे पहले भारतीय सेना के सेवानिवृत 36 नागा सैनिकों को ही हिंदी के अध्यापन-कार्य के लिए नियुक्त किया गया। इसके पीछे कारण यह था कि ये नागा सैनिक अपने सेवाकाल के दौरान पूरे भारत का भ्रमण कर चुके थे और इन्हें हिंदी का अच्छा व्यावहारिक ज्ञान हो चुका था। स्वतंत्र राज्य बनने के बाद नागालैंड में राजकीय स्तर पर हिंदी के

पठन-पाठन का विधिवत आरंभ सातवें दशक में हुआ। राजभाषा हिंदी के अध्ययन-अध्यापन एवं प्रशिक्षण के लिए केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा के सहयोग से 1968 ई. में नागालैंड के दीमापुर जिले में राजकीय हिंदी संस्थान की स्थापना की गयी। पाठ्यक्रम निर्माण एवं शिक्षण-प्रशिक्षण के स्वरूप आदि का दायित्व केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा को सौंपा गया। राजकीय हिंदी संस्थान द्वारा आरम्भ में हिंदी के विधिवत प्रशिक्षण के लिए 'चारवर्षीय हिंदी शिक्षक डिप्लोमा पाठ्यक्रम' संचालित किया गया जिसे वर्ष 2003 से त्रीवर्षीय कर दिया गया। इस पाठ्यक्रम में प्रत्येक वर्ष 40 विद्यार्थियों को प्रवेश दिया जाता था वहीं वर्ष 2015 से प्रवेश की संख्या 50 कर दी गयी। इस पाठ्यक्रम में अध्ययन करने वाले छात्र अंतिम वर्ष का पाठ्यक्रम केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा में रहकर पूरा करते हैं। इसके पीछे मूल उद्देश्य यही है कि ये हिंदीतर भाषी छात्र हिंदी प्रदेश में एक निश्चित अवधि तक रहकर हिंदी भाषा के प्रयोग में अधिकाधिक व्यावहारिक निपुणता प्राप्त कर सकें साथ ही हिंदी के भाषिक-सांस्कृतिक परिवेश एवं सन्दर्भों से पूर्णतः परिचित भी हो सकें।

कहना न होगा कि नागालैंड में हिंदी के विधिवत शिक्षण-प्रशिक्षण की व्यवस्था में राजकीय हिंदी संस्थान, दीमापुर के साथ-साथ राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही। राजकीय हिंदी संस्थान के साथ-साथ अनेक नागा छात्रों ने राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, वर्धा जाकर हिंदी में परिचय, कोविद एवं रत्न (स्नातक) उत्तीर्ण किया एवं वापस आकर नागालैंड में हिंदी के प्रचार-प्रसार का कार्य आरंभ किया। अनेक हिंदी प्रेमी अध्यापकों ने नागालैंड में हिंदी शिक्षण के लिए राष्ट्रभाषा प्रचार समिति की शाखाएँ खोलीं, इन आवासीय विद्यालयों में प्रतिवर्ष सैकड़ों छात्रों के लिए नियमित हिंदी शिक्षण के साथ-साथ न्यूनतम शुल्क पर भोजन एवं आवास की सुविधाएँ उपलब्ध करवाईं। पद्मश्री स्वर्गीय प्योंग तेमजन जामीर हिंदी के प्राथमिक प्रचारकों में से एक थे जिन्होंने वर्धा से मान्यता लेकर दीमापुर में राष्ट्रभाषा हिंदी प्रशिक्षण संस्थान खोला। धीरे-धीरे इनकी प्रेरणा से अन्य हिंदी प्रेमी नागाओं ने अनेक हिंदी विद्यालय खोले तथा हिंदी के प्रचार-प्रसार, पाठ्य-पुस्तक एवं कोश निर्माण आदि के लिए हिंदी अकादमियों की स्थापना की। इन हिंदी विद्यालयों से हिंदी पढ़कर अनेक छात्र नागालैंड के प्राथमिक एवं माध्यमिक विद्यालयों में सरकारी अध्यापक बने। हाल के वर्षों तक नागालैंड राज्य सरकार द्वारा प्राइवेट विद्यालयों में भी सरकारी हिंदी अध्यापक प्रतिनियुक्त किये जाते रहे हैं। आज इसी का परिणाम है कि जनसंख्या के अनुपात में पूर्वोत्तर के राज्यों में नागालैंड में सर्वाधिक प्राथमिक हिंदी शिक्षक कार्यरत हैं, हिंदी शिक्षकों की यह संख्या लगभग तीन हजार है। सन 2003 में नागालैंड राज्य सरकार ने हिंदी शिक्षकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था के लिए दीमापुर में केंद्रीय हिंदी संस्थान का क्षेत्रीय केंद्र स्थापित करने हेतु निःशुल्क भवन एवं भूमि उपलब्ध करवाया। यहाँ सन 2003 नियमित रूप से हिंदी शिक्षकों को प्रशिक्षित किया जाता रहा है। आज नागालैंड के विद्यालयों में कक्षा 1 से

लेकर कक्षा 8वीं तक हिंदी की पढ़ाई अनिवार्य रूप से करवाई जा रही है। कक्षा 9वीं से 12वीं तक हिंदी को ऐच्छिक विषय के रूप में लेकर छात्र पढ़ रहे हैं। आज नागालैंड विश्वविद्यालय, कोहिमा कैम्पस में हिंदी विभाग के अंतर्गत अनेक छात्र हिंदी विषय से स्नातकोत्तर एवं पी-एच. डी में अध्ययनरत एवं शोधरत हैं।

वर्त्तमान में समूचे नागालैंड में संपर्क भाषा के रूप में 'नगामीज' बोलचाल का प्रमुख माध्यम है लेकिन इसके साथ-साथ हिंदी का प्रयोग भी तेजी से बढ़ रहा है। भाषिक बहुलता की दृष्टि से नागालैंड की सभी 16 प्रमुख जनजातियों की अपनी-अपनी मातृभाषाएँ हैं। इन प्रमुख जनजातियों की उपजातियों के भीतर भी उनकी मातृभाषाओं में थोडा-बहुत अंतर है। नागालैंड की सभी जनजातीय भाषाएँ प्रायः अपनी जातियों के नाम से ही जानी जाती हैं। नागालैंड में 16 से अधिक मातृभाषाएँ हैं लेकिन किसी भी भाषा की अपनी लिपि नहीं है। कुछ प्रमुख भाषाओं जैसे आओ, अंगामी आदि को लिखने के लिए रोमन लिपि का प्रयोग किया जाता है। नागा भाषाओं की अपनी लिपि न होने के कारण नागा जातियों के इतिहास और संस्कृति को भी लिपिबद्ध करने की परंपरा नहीं रही। इसलिए आज नागालैंड का कोई प्रारंभिक लिखित इतिहास नहीं है लेकिन पड़ोसी राज्य असम के अहोम साम्राज्य के लिखित दस्तावेजों में नागा समुदाय, उनकी अर्थव्यवस्था और रीति-रिवाजों का उल्लेख मिलता है। वस्तुतः असम, अरुणांचल प्रदेश, मणिपुर और बर्मा से घिरा हुआ नागालैंड राज्य का प्राकृतिक सौन्दर्य जिस प्रकार अद्भुत और रमणीय है उसी प्रकार नागालैंड के निवासियों की संस्कृति, सभ्यता, परम्पराएँ एवं रीति-रिवाज भी अनोखी और वैविध्यमय है। अपनी प्राकृतिक सुषमा एवं सुरम्यता के कारण नागालैंड को 'पूरब का स्विट्ज़रलैंड' भी कहा जाता है। इस दृष्टि से देखा जाये तो नागालैंड में पर्यटन के विकास की असीम संभावनाएँ हैं। कहना न होगा कि पर्यटन के साथ भाषा का अन्योन्याश्रित संबन्ध है। नागालैंड समेत समूचे पूर्वोतर भारत में पर्यटन का तेजी से विकास हो रहा है एवं पर्यटकों के साथ संवाद हेतु बोलचाल के रूप में हिंदी का प्रसार भी तीव्रता के साथ हो रहा है। देखा जाए तो अब संपर्क भाषा के साथ-साथ पठन-पाठन में भी हिंदी का महत्त्व धीरे-धीरे बढ़ रहा है। इसके साथ ही नगरों से लेकर सूदूर ग्राम्य अंचलों तक समाचार पत्र, साहित्य, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा के साथ-साथ मोबाइल, इन्टरनेट एवं सोशल मीडिया के माध्यम से हिंदी तेजी से बढ़ रही है। दूसरी तरफ केंद्र सरकार के साथ तालमेल बिठाते हुए अब पूर्वोतर की राज्य सरकारें भी पूर्वोतर के समग्र विकास के लिए कटिबद्ध दिखाई दे रही हैं। समग्र विकास में आर्थिक विकास के साथ सामाजिक-सांस्कृतिक विकास भी निहित है। निश्चित ही विकास के इस क्रम में पूर्वोतर की भाषाओँ का विकास होगा एवं हिंदी इनके बीच संपर्क सेतु का काम करती रहेगी।

# दिवा रासः शास्त्रीय मणिपुरी रास लीला नृत्यों में से एक

**डॉ. खंगमबम खोनी**

रास लीला के कम प्रसिद्ध रूपों में से एक, जिसकी शुरुआत राजसी परिवेश से नहीं, बल्कि आम जनता के बीच के आम भक्तों द्वारा की गई थी, दिवा रास कहलाता है। दिवा रास का लोकप्रिय नाम इसलिए पड़ा क्योंकि संस्कृत शब्दावली से अनुवादित होने पर इसका अर्थ था कि इसे दिन के समय रास के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है, न कि रात के समय, जैसा कि गोविंदजी मंदिर में अन्य स्थापित रासों में होता था। एक लोकप्रिय रास जो लोगों के प्रयासों से उत्पन्न हो सकता था, जिसे दिन के समय (दिवा का अर्थ है दिन) प्रस्तुत किया जा सकता था, रास लीला की रूढ़िवादी परंपराओं से एक उत्कृष्ट कदम था। संस्कृत शब्द दिवा का एक अन्य अर्थ आकाश या स्वर्ग भी है, जिसका उपयोग वास्तव में इस रास का वर्णन करने के लिए भी किया जा सकता है। महत्वपूर्ण मुद्दा यह है कि जब 1940 के दशक में यह रास खेला गया (सही तारीख शाही इतिहास 'चेइथारोल कुंभबा' में दर्ज नहीं की गई थी), तो आम लोगों के दृष्टिकोण और कार्यों में काफी परिवर्तन हुआ था। लोगों के सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोण में निश्चित रूप से कुछ बदलाव होना चाहिए जो लोगों की रास लीला शुरू कर सकते थे, जो वास्तव में राजशाही संस्था के लिए एक चुनौती थी, जिसने धार्मिक प्रदर्शनों पर एकाधिकार कर लिया था। इससे पहले, सभी धार्मिक प्रदर्शन सबसे पहले गोविंदा के शाही देवता (गोविंदजी मंदिर में) को पेश किए जाने चाहिए, और फिर प्रदर्शन बाद के क्षेत्रों में अन्य मंदिरों और ग्रामीण इलाकों में फैल सकता था। इस बार, इम्फाल के बाजार से तीन किलोमीटर दूर पश्चिमी तरफ सागोलबंद नामक क्षेत्र में एक दिन के प्रयास के लिए रास उत्पादन की शुरुआत, और सागोलबंद मीनो लीराक में साधारण ब्राह्मण मंदिर में इसका प्रीमियर वास्तव में एक अत्यंत लोकतांत्रिक कदम था जिसने रास लीला की पूर्व परंपराओं को चुनौती दी थी। संयोग से, गोविंदजी मंदिर की सख्त और रूढ़िवादी स्थापना, जो अभी भी पुरानी परंपराओं को बरकरार रखती है रास लीला के लोग इस लोक रूप को मान्यता नहीं देते हैं और रास की इस शैली को गोविंदजी मंदिर में प्रस्तुत करने की अनुमति नहीं है।

हमारे लिए यह उचित है कि हम इस रास का निर्माण करने वाले लोगों के बदलते सामाजिक और सांस्कृतिक दृष्टिकोणों पर एक नज़र डालें और इस रूप के उद्भव की पृष्ठभूमि को समझने की कोशिश करें। हम जानते हैं कि पहला महारास 18वीं शताब्दी के अंत में (1779 ई.) राजर्षि भाग्यचंद्र द्वारा प्रस्तुत किया गया था और दिवा रास 1940 के दशक में सागोलबंद के भक्तों द्वारा प्रस्तुत किया गया था। तब से लगभग डेढ़ सौ साल बीत चुके हैं और सामंती परंपरा से उभरने वाले लोगों के चरित्र, दृष्टिकोण और क्षमता में पर्याप्त विकास हुआ होगा और धार्मिक अनुष्ठानों और त्योहारों पर राजसत्ता के देवत्व, शक्ति और एकाधिकार के बारे में गहराई से जमी सामंती धारणाओं और धार्मिक व्यवहार में पवित्र और अपवित्र की धार्मिक रूढ़िवादिता की प्रकृति के लिए कुछ चुनौतियाँ आई होंगी। यह सच है कि अठारहवीं शताब्दी के आरंभ में लोगों के हिंदू धर्म में धर्मांतरण के बाद से मणिपुर एक गहन रूढ़िवादी राज्य बन गया और आगामी वर्ष समाज के क्रमिक स्तरीकरण का काल थे, जब ब्राह्मण (राज्य के बाहर से आए लोग) समाज के सर्वोच्च स्तर बन गए, शासक वंश और धर्मांतरित केंद्रीय आबादी को क्षेत्रिय के रूप में संबद्ध किया गया। भारत के अन्य राज्यों की तरह यहां शूद्र व्यवस्था नहीं थी -लोई, कीस और सीमांत तथा पहाड़ियों पर रहने वाले आदिवासियों को उस समय के हिंदू समाज से बाहर रखा गया था। रूढ़िवादी पुरोहितों के संदर्भ में समाज का क्रमिक स्तरीकरण, जो राजा को अनुष्ठानों, युद्ध के समय और अवसरों की शुभता, या आयोजनों की व्यवस्था और लोगों के संस्कारों की अध्यक्षता करने के बारे में सलाह देते थे, वे भुगतान वाले पेशे और सम्मान की सीटें बनते जा रहे थे। कुलीन वर्ग, जो प्राचीन काल में समाज का सबसे शक्तिशाली वर्ग था, जो राज्य के युद्ध लड़ता था और शासन का प्रबंधन और ज़िम्मेदारियाँ संभालता था, 1891 में ब्रिटिश साम्राज्य के हाथों राज्य की पराजय के बाद धीरे-धीरे अपनी स्थिति खो रहा था। ब्रिटिश साम्राज्य ने मीतेई कुलीन वर्ग को दंडित किया, कुलीन वर्ग से जुड़े युद्धरत वंशों के बड़े हिस्से को निरस्त्र कर दिया, अंग्रेजों से युद्धरत कर्ता वंशों (भाग्यचंद्र के वंश) की संपत्तियाँ जब्त कर लीं और एक अन्य वंश (नरसिंह के वंश) को प्रोत्साहित किया, उनके नाबालिग चूड़ाचंद को राजगद्दी वापस सौंप दी, जिन्हें छह साल की उम्र में नया राजा चुना गया। उन्हें ब्रिटिश साम्राज्य के मूल्यों को आत्मसात करने के लिए धीरे-धीरे अजमेर के रॉयल कॉलेज भेजा गया और 1907 में उन्हें औपचारिक रूप से राज्य का प्रशासन सौंप दिया गया। कुलीनों और योग्य आम लोगों के बेटों को अंग्रेजी शिक्षा दी जाती थी और बीसवीं सदी तक, ब्रिटिश साम्राज्य के तौर-तरीकों का समर्थन करने के लिए एक नया शिक्षित मध्यम वर्ग उभर रहा था। ग्रामीण परिवारों के आम लोग चावल उत्पादन और सामान्य कृषि पद्धतियों के लिए खेतों की जुताई से जुड़े रहे। उपनिवेशित राज्य की अर्थव्यवस्था और प्रशासनिक सेवाओं को चलाने के लिए अंग्रेजों ने दो नए सामाजिक घटक पेश किए। मारवाड़ी बाज़ार पर नियंत्रण करके औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था चलाते थे, और बंगाली बाबुओं को

शिक्षक और राजस्व अधिकारी के रूप में भर्ती किया जाता था। उपनिवेशित अर्थव्यवस्था ने जल्द ही समाज और लोगों की संरचना और चेतना को बदल दिया और 1891 के बाद के दौर में आधुनिकता बहुत धीमी गति से विकसित हुई।

धर्म और समाज के क्षेत्र में लोगों के दृष्टिकोण और व्यवहार में दो तरह के बदलाव देखे गए। अठारहवीं शताब्दी के अंत से हिंदू धर्म (या वैष्णव धर्म) राजकीय धर्म बन गया था और हिंदू पंचांग के अनुसार अनुष्ठानों और रीति-रिवाजों का व्यापक प्रसार हुआ। हिंदू पंचांग में प्रदर्शन, नृत्य, लीलाएँ और संकीर्तन अनिवार्य कार्यक्रम बन गए और कथाएँ, गीत और अनुष्ठान प्रदर्शन सार्थक आयोजन बनते गए। मैदानी इलाकों में मीतेई आबादी के कुछ छोटे वर्ग भी थे जो अभी भी सनमही पूजा के सिद्धांतों का पालन करते थे और 1930 के दशक में अपोक्पा मरुप (पूर्वजों का संघ) के उदय के माध्यम से पूर्व-हिंदू धार्मिक मान्यताओं के पुनरुद्धार के लिए असम की कछार घाटी से एक नया आंदोलन शुरू हुआ।

उन्नीसवीं शताब्दी और बीसवीं शताब्दी के प्रारंभ में हिंदू समाज वास्तव में बहुत रूढ़िवादी हो गया था और इस काल में मंगबा और सेंगबा (अपवित्रता और पवित्रता की गतिशीलता) बहुत प्रबल थी। यहीं पर ब्राह्मण वर्ग अपनी धार्मिक स्थिति की शुद्धता के नाम पर लोगों को बहिष्कृत कर सकते थे, उन्हें अशुद्ध स्थिति से मुक्त करने और हिंदू धर्म की पवित्रता की पुनर्स्थापना के लिए जुर्माना लगा सकते थे। ब्रह्म-सभा, धार्मिक गुरु और ब्राह्मणों की एक परिषद जो भाग्यचंद्र (1763 -1798) के शासनकाल में शुरू हुई थी, बहुत लोकप्रिय हो रही थी और वे कई हिंदू आम लोगों को बहिष्कृत कर सकते थे, हिंदू धर्म में उनकी पुनः संबद्धता के लिए जुर्माना लगा सकते थे। आम आदमी पर ब्राह्मण वर्गों द्वारा आर्थिक और सामाजिक उत्पीड़न बहुत कठोर होता जा रहा था, जिससे लोगों को नुकसान उठाना पड़ा। बीसवीं सदी के पहले तीन दशकों में धीरे-धीरे इस उत्पीड़न से लड़ने और धर्म को ऐसे दमनकारी प्रथाओं से शुद्ध करने के प्रयास किए गए। हिजाम इराबोत (1896-1951) एक प्रतिबद्ध समाज सुधारक हुए उन्होंने शिक्षित, लोकतांत्रिक सोच वाले ब्राह्मणों और अन्य प्रबुद्ध सदस्यों के साथ मिलकर 1934 में निखिल हिंदू मणिपुरी महासभा (एक शक्तिशाली लोकतांत्रिक सामाजिक और धार्मिक सुधार निकाय) की शुरुआत की। इस सामाजिक सुधार निकाय का उदय जल्द ही 1938 में एक राजनीतिक आंदोलन बन गया और हिंदू आबादी के रवैये और व्यवहार में हो रहे बदलावों को तेज किया जाना था। 1934 में गौर धर्म प्रचारिणी सभा की स्थापना से महासभा के भीतर एक सुधार आंदोलन उत्पन्न हुआ और इसका प्रयास उचित हिंदू धर्म को मजबूत करना, व्यवस्था के भीतर की बुराइयों को दूर करना और आदिवासियों और लोई जैसे आबादी के अन्य वर्गों को वैष्णव धर्म के दायरे में परिवर्तित करने का प्रयास करना था। ये शिक्षित अभिजात वर्ग द्वारा उत्पन्न आंदोलन थे जिनका प्रभाव लोगों द्वारा अपने स्वयं के सशक्तिकरण की धारणाओं पर महसूस किया गया।

समाज में जो अन्य परिवर्तन हुए, वे थे औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का दमनकारी प्रयास, 1891 के बाद मणिपुर के भारत में आर्थिक एकीकरण की शोषणकारी प्रकृति, और मारवाड़ियों द्वारा विनिमय और क्षेत्र से खाद्य उत्पादों के निर्यात के माध्यम के रूप में भारतीय रुपये का प्रचलन, जो बाद में 1939 में राज्य की महिलाओं के विद्रोह में बदल गया। इसे मणिपुर के सामाजिक इतिहास में नुपिलन अनीसुबा (दूसरा महिला युद्ध) के रूप में जाना जाता है।

पहला नुपिलन 1904 में हुआ था, जब राज्य के पुरुषों को सहायक राजनीतिक एजेंट के घर के निर्माण में श्रमदान करने के लिए मजबूर किया गया था, जिसे जुलाई 1904 में विद्रोहियों ने जला दिया था, जिसके बाद बाज़ार की महिलाएँ ब्रिटिश औपनिवेशिक सत्ता के खिलाफ लड़ने के लिए एकजुट हो गईं। दमनकारी राज्य उपायों के खिलाफ बाज़ार की महिलाएँ अपनी सक्रिय कार्रवाइयों में दबी नहीं थीं। इस बार 1939 में, बाज़ार की महिलाएँ मारवाड़ी एजेंटों द्वारा लोगों के शोषण और राज्य से चावल के निर्यात को रोकने के लिए एक प्रतिरोधी शक्ति के रूप में उभरीं, जिससे राज्य में एक कृत्रिम अकाल पैदा हो गया। दूसरा नुपिलन 1938 में निखिल हिंदू मणिपुरी महासभा के साथ संयोग से एक राजनीतिक संस्था बन गया, जब इराबोट के नेतृत्व में इसने सामंती, राजशाही सत्ता के विरुद्ध राजनीतिक आंदोलन शुरू किया और लोकतांत्रिक, जनसंघर्ष एक ऐसी विशेषता बन गई जिसने कुंडगशिप की संस्था को कमजोर कर दिया। चूड़ाचंद महाराज एक मजबूत तानाशाह शासक थे, और उनके शासनकाल में, राजा की लंबे समय से स्थापित शक्ति और अधिकार धीरे-धीरे कमजोर होते गए। घर-परिवार, लेइकाई, गाँव आदि के हर वर्ग में लोगों का धीरे-धीरे सशक्तीकरण शुरू हो गया था।

इसलिए, 1939 का दूसरा नुपिलन मणिपुर के सामाजिक परिवेश में एक महत्वपूर्ण घटना थी। ब्रिटिश साम्राज्य की औपनिवेशिक ताकतों के विरुद्ध आंदोलन, महिलाओं द्वारा सम्मान और न्याय के लिए संघर्ष, महिलाओं की ओर से इराबोत का हस्तक्षेप, और जनवरी 1940 में उनकी गिरफ्तारी ने आम पुरुषों और महिलाओं के मन पर एक अमिट छाप छोड़ी, कि सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक न्याय के लिए आंदोलन जनता द्वारा लड़े जा सकते हैं। इराबोत द्वारा शुरू किया गया लोकतांत्रिक आंदोलन लोगों के दृष्टिकोण और व्यवहार पर एक दीर्घकालिक प्रभाव छोड़ने वाला था। उपनिवेशी अर्थव्यवस्था की उथल-पुथल और उत्पीड़न, बाहरी ताकतों द्वारा आजीविका पर शिकंजा और इन मुद्दों पर जनता के संघर्षों ने एक गहरा परिवर्तन पैदा किया, जिससे सामंती राजशाही की संस्थाओं के विरुद्ध भी संघर्ष हुआ, जिसे ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा संरक्षित और प्रोत्साहित किया गया था। अस्थिर सामाजिक परिवेश के बीच, राजसत्ता के राजनीतिक अधिकार के प्रति कम भय के बीच, बिना किसी राजसत्ता के, लोगों की पहल पर दिवा रास का आयोजन किया गया, जिससे एक रोमांचक धार्मिक आयोजन हुआ।

इसके बाद इस मामले पर ब्रह्म सभा में चर्चा की गई, जिसे विशेष रूप से इसी

उद्देश्य से बुलाया गया था। यहाँ, दिलचस्प बात यह है कि ब्रह्म सभा, जो ब्राह्मणों की परिषद थी और जो अत्याचार, बहिष्कार और समाज-बहिष्कार के माध्यम से लोगों पर अत्याचार करती रही थी, इस बार ओझा तोंबा सिंह के पक्ष में खड़ी हुई। उन्होंने राजा से अनुरोध किया कि यह रास गुप्त रूप से वृंदावन स्थित अंबुजा कुंज नामक एक मंडप में आयोजित किया जाए, जहाँ दिन के समय इसका आयोजन किया जा सके। राजा ने दिन के समय रास के पक्ष में लिए गए निर्णय पर सहमति व्यक्त की और तोंबा सिंह को कार्यक्रम आयोजित करने की अनुमति दे दी। ओझा तोंबा सिंह को हस्ताक्षरित स्वर्ण मुद्रा के रूप में अनुमति प्रदान की गई। भगवान गोविंद के प्रति प्रेम और भक्ति, उनसे आशीर्वाद की प्रार्थना, और साथ ही राजा के अधिकार के प्रति भय ने गुरु को मिश्रित भावनाओं के साथ आदेश ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया।

इसलिए, 1939 का दूसरा नुपिलन मणिपुर के सामाजिक परिवेश में एक महत्वपूर्ण घटना थी। ब्रिटिश साम्राज्य की औपनिवेशिक ताकतों के विरुद्ध आंदोलन, महिलाओं द्वारा सम्मान और न्याय के लिए संघर्ष, महिलाओं की ओर से इराबोत का हस्तक्षेप, और जनवरी 1940 में उनकी गिरफ्तारी ने आम पुरुषों और महिलाओं के मन पर एक अमिट छाप छोड़ी, कि सामाजिक, आर्थिक और धार्मिक न्याय के लिए आंदोलन जनता द्वारा लड़े जा सकते हैं। इराबोत द्वारा शुरू किया गया लोकतांत्रिक आंदोलन लोगों के दृष्टिकोण और व्यवहार पर एक दीर्घकालिक प्रभाव छोड़ने वाला था। उपनिवेशी अर्थव्यवस्था की उथल-पुथल और उत्पीड़न, बाहरी ताकतों द्वारा आजीविका पर शिकंजा और इन मुद्दों पर जनता के संघर्षों ने एक गहरा परिवर्तन पैदा किया, जिससे सामंती राजशाही की संस्थाओं के विरुद्ध भी संघर्ष हुआ, जिसे ब्रिटिश साम्राज्य द्वारा संरक्षित और प्रोत्साहित किया गया था। अस्थिर सामाजिक परिवेश के बीच, राजसत्ता के राजनीतिक अधिकार के प्रति कम भय के बीच, बिना किसी राजसत्ता के, लोगों की पहल पर दिवा रास का आयोजन किया गया, जिससे एक रोमांचक धार्मिक आयोजन हुआ।

इसके बाद इस मामले पर ब्रह्म सभा में चर्चा की गई, जिसे विशेष रूप से इसी उद्देश्य से बुलाया गया था। यहाँ, दिलचस्प बात यह है कि ब्रह्म सभा, जो ब्राह्मणों की परिषद थी और जो अत्याचार, बहिष्कार और समाज-बहिष्कार के माध्यम से लोगों पर अत्याचार करती रही थी, इस बार ओझा तोंबा सिंह के पक्ष में खड़ी हुई। उन्होंने राजा से अनुरोध किया कि यह रास गुप्त रूप से वृंदावन स्थित अंबुजा कुंज नामक एक मंडप में आयोजित किया जाए, जहाँ दिन के समय इसका आयोजन किया जा सके। राजा ने दिन के समय रास के पक्ष में लिए गए निर्णय पर सहमति व्यक्त की और तोंबा सिंह को कार्यक्रम आयोजित करने की अनुमति दे दी। ओझा तोंबा सिंह को हस्ताक्षरित स्वर्ण मुद्रा के रूप में अनुमति प्रदान की गई। भगवान गोविंद के प्रति प्रेम और भक्ति, उनसे आशीर्वाद की प्रार्थना, और साथ ही राजा के अधिकार के प्रति भय ने गुरु को मिश्रित भावनाओं के साथ आदेश ग्रहण करने के लिए प्रेरित किया।

तब गुरु का उद्देश्य भक्तों और वैष्णवों के माध्यम से रास प्रस्तुति को बढ़ावा देना था, जो श्री राधा गोविंद के प्रेम रस से गहराई से तृप्त थे, ताकि वे इसका आनंद ले सकें और यह सुनिश्चित कर सकें कि वे प्रस्तुति को सबसे आकर्षक भक्तिपूर्ण तरीके से ग्रहण करें। विचार यह था कि नित्य रास को छोड़कर, अन्य रास प्रस्तुतियाँ हिंदू कैलेंडर में विशिष्ट अनुष्ठानिक आयोजनों के लिए थीं और उन लोगों के लिए बहुत कम अवसर थे जो रास प्रस्तुति के माध्यम से अपनी पसंद के समय पर कलाकारों को देखना या प्रस्तुत करना चाहते थे। यह भी माना जाता है कि प्रकृति के बदलते चक्र नए रूपों और नई शैलियों में प्रकट हुए, जो इच्छुक लोगों के रचनात्मक आवेगों के साथ थे, परिवर्तन के गुण नए रूप के प्रकटीकरण के लिए लोगों की नई आकांक्षाओं को प्रतिबिंबित करते हैं, और यह स्वयं उन्हीं गुणों का प्रतीक है जिन्हें अब किसी भी समय या स्थान पर रात्रिकालीन अभ्यास के रूप में बिना किसी बाधा के प्रस्तुत किया जा सकता है। इसे दिन के रास के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है और इसीलिए इसे दिवा रास कहा जाता है।

दिवा रास, जिसका निर्माण 1940 में सागोलबांड मीनो लीराक के एक स्थानीय उपनगरीय मंडप में जनता की पहल पर हुआ था, 20वीं सदी के चौथे दशक की सबसे उल्लेखनीय घटनाओं में से एक थी। इस घटना की वास्तविक प्रकृति के बारे में बहुत कम जानकारी है, क्योंकि घटनाओं के अभिलेख केवल आम लोगों (जो सभी दिवंगत हो चुके थे) के दिलों और दिमागों में ही थे, जो इसे एक विनाशकारी घटना के रूप में ही बता सकते थे, क्योंकि इसने लोकप्रिय कल्पना की लहरें पैदा कीं, कि रास अब केवल राजसी कुलीनों और धार्मिक अभिजात वर्ग के दायरे तक ही सीमित नहीं रह सकता था, बल्कि इसे आम लोगों की ऊर्जा और पहल से उत्पन्न किया जा सकता था। यह उस समय की राजनीति के समान ही महत्वपूर्ण था। हिजाम इराबोट वास्तव में सामंतवाद और राजशाही सत्ता के पूर्ववर्ती बंधनों से लोकतांत्रिक ताकतों की मुक्ति के लिए संघर्ष कर रहे थे। हिंदू धर्म में सुधार के लिए जन-सामाजिक आंदोलन के समानांतर एक सांस्कृतिक पहल की गई, ताकि आध्यात्मिक परम से मिलन की खोज में जन-जन की पहल, राजसी राज की एक लंबे समय से सीमित धार्मिक और रूढ़िवादी परंपरा, रास लीला के माध्यम से प्रदर्शित की जा सके। इस प्रकार स्वर्गीय अखम तोंबा, लोक रास लीला को लोकप्रिय बनाने के गौरव के पात्र थे।

ओझा अखम तोंबा ने वास्तव में अपने कलात्मक जीवन की शुरुआत एक साधारण, रूढ़िवादी अर्ध-मध्यम वर्गीय परिवेश में की थी, जब वे ब्रिटिश साम्राज्य के अधिकारियों द्वारा शुरू किए गए स्कूल में नहीं जा सकते थे, क्योंकि उनके पिता ने उन्हें तीव्र मंगबा-सेंगबा (अपवित्रता और पवित्रता की गतिशीलता) सिंड्रोम के कारण आगे पढ़ाई जारी रखने की अनुमति नहीं दी थी। इस प्रकार वे सामाजिक परिवेश में नए शिक्षित मध्यम वर्ग के हिस्से के रूप में उभर नहीं पाए, बल्कि धार्मिक परिवेश में

संकीर्तन परंपरा को जारी रखा। वे एक अन्य लोकप्रिय प्रदर्शन शैली, गौरलीला की नई कला में भी निपुण थे। गौरलीला, जो गौरचंद्र महाप्रभु के उपदेशों के नाटकीय प्रकटीकरण में एक नवीन नवाचार थी, कलाकारों की रचनात्मक ऊर्जा से प्राप्त गहन नाट्य योगदान के कारण अत्यंत लोकप्रिय हो रही थी, जिन्हें संयोगवश राजपरिवार का संरक्षण प्राप्त था। अखम तोम्बा ने युवावस्था में ही गौरलीला आंदोलन में भाग लिया और साथ ही परिपक्व होने पर स्वयं इस कला के शिक्षक भी बन गए। अखम तोम्बा अर्ध-नगरीय धार्मिक परिवेश में नए विचारों वाले लोगों के बीच भी सक्रिय थे, हिंदू धर्म के नए बंगाली और संस्कृत साहित्य के प्रति गहन रूप से जागरूक थे, और ऐसा प्रतीत होता है कि वे स्वयं भी अत्यंत अध्ययनशील व्यक्ति थे, जिन्होंने हिंदू धर्म के कलात्मक और दार्शनिक साहित्य का प्रचुर अध्ययन किया था। अम्बुजा कुंज, एक धर्मनिरपेक्ष कुंज जहाँ भगवान कृष्ण और राधा ने रास रचाया था, में रास लीला के बारे में पौराणिक साहित्य में उदाहरणों का उल्लेख करने की उनकी क्षमता, रासधारी के रूप में रास लीला की विभिन्न परंपराओं के उनके ज्ञान का प्रमाण थी।

स्वर्गीय अखम तोंबा के कलात्मक जीवन को तुरंत याद करना मुश्किल है, क्योंकि उनकी जीवित पुत्री इमा इबेनी देवी अब नब्बे वर्ष से ऊपर की हो चुकी हैं और उन्हें अपने दिवंगत पिता की धुंधली यादें हैं। जब इस शोधकर्ता ने उनकी सत्तर वर्ष से अधिक आयु की पुत्री बिलासिनी देवी का साक्षात्कार लिया, तो वे और उनकी पुत्री बिलासिनी देवी भावुक होकर लगभग रो पड़ीं, क्योंकि कलाकारों की वर्तमान पीढ़ी में से किसी ने भी राज्य के सांस्कृतिक आंदोलन में ओझाओं की सेवाओं की ज़रा भी सराहना नहीं की। ओझा अखम तोंबा को हिडांगमायुम परिवार (सागोलबंद मीनो लीराक का एक ब्राह्मण परिवार) के निमंत्रण पर रास रचने में मदद मिली, जो रास लीला प्रस्तुत करने के इच्छुक थे, और वे चाहते थे कि ओझा तोंबा हर संभव मदद करें। तब ओझा तोंबा ने दिन में रास रचने का निर्णय लिया, जो परंपरा को पूरी तरह चुनौती देता था और राजशाही सत्ता के विरुद्ध था। उनके इस प्रेमपूर्ण श्रम के लिए उन्हें दस रुपये दक्षिणा (वर्तमान में मूल्य 10,000 रुपये हो सकता है) दी गई।

इमा इबेनी, जिन्होंने दिवा रास के अनुभवों को लिखने में इमा थौरानिषाबी की मदद की थी, दुर्भाग्यवश दिवा रास के पहले प्रदर्शन की साक्षी नहीं बन पाईं, क्योंकि वह पहले से ही कहीं और उदुखोल प्रदर्शन में व्यस्त थीं। यह एक कलात्मक परिवार था जो एक साथ विभिन्न विधाओं में संलग्न था। ओझा अखम तोम्बा के बारे में पता चला कि वे कई छात्रों को संकीर्तन और रास प्रदर्शन सिखाते थे, और वे बिजॉयगोविंद मंदिर के आसपास के कार्यक्रमों से गहराई से जुड़े थे (और कभी-कभार राजसी वातावरण में उपस्थित भी रहते थे)। बिजॉयगोविंद स्थित बिजॉयगोविंद मंदिर, 18वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भाग्यचंद्र के चाचा, मंत्री अनंतशाय द्वारा स्थापित एक धार्मिक प्रतिष्ठान, ऐतिहासिक रूप से महत्वपूर्ण था, क्योंकि पारंपरिक कुलीन वर्ग से यह

प्रतिष्ठान ही था, जो महल से निकलने वाले उत्कृष्ट कलात्मक प्रदर्शनों को लोगों तक पहुँचाने की भूमिका निभाता था। इसलिए, महल से उत्पन्न संपूर्ण प्रदर्शन परंपरा, बिजॉयगोविंद में प्रदर्शन के मॉडलों के माध्यम से लोगों को सौंपी जा सकी। इस प्रकार, बिजयगोविंद मंदिर में प्रस्तुत रास अधिक नाटकीय था, जहाँ कृष्ण और राधा की भूमिकाएँ बाल कलाकारों द्वारा निभाई जाती थीं, और इस मंदिर में आयोजित रास को गाँव के मंडपों और धार्मिक समारोहों में दोहराया जा सकता था। महल स्थित गोविंदजी मंदिर में प्रस्तुत रास में राधा और कृष्ण नहीं होते, क्योंकि देवताओं की मूर्तियाँ पहले से ही भद्रचक्र पर स्थापित हैं, और केवल गोपियाँ ही रास नृत्य में भाग लेती हैं। इस प्रकार, बिजयगोविंद मंदिर कलात्मक आदान-प्रदान के लिए लोगों और महल के बीच एक माध्यम था।

ओझा अखम तोम्बा के पास उरीपोक और सागोलबंद में कोनसम और सोरोखैबम परिवारों के साथ निकटता से संपर्क करने के मामले में काफी आत्मनिर्भर दल भी था (कोंसम एक वंश है जो धातु विज्ञान से संबंधित है, और वे जटिल धातु के एप्लिक इनले के साथ रास लीला की वेशभूषा को परिष्कृत करने में लगे हुए थे; सोरोखिबम परिवार वेशभूषा की तैयारी से संबंधित थे!)। 1940 के दशक में प्रदर्शन में इस्तेमाल की जाने वाली पोशाकें आजकल की तुलना में पूरी तरह से अलग थीं। इसे घाघरा के नाम से जाना जाता था, जिसे इमा इबेनी की बेटी 'चमारा' या 'साड़ी' कहती हैं। पोशाक डिजाइनों में परिवर्तन कुछ हद तक पेचीदा और दिलचस्प हैं इस अर्थ में कि एक परंपरा के भीतर, आज हम जिस विशाल गोलाकार चमकदार पोटलोई या 'पोसवान' को देखते हैं, वह युद्धोत्तर विकास प्रतीत होता है। हमें बाद में पता चलता है कि दिवा रास युद्धोत्तर काल में कई बार प्रस्तुत किया गया था। यह ओझा तोम्बा की रचना से इतना घनिष्ठ रूप से जुड़ा था कि उनके निधन के बाद (लगभग 1956 में?) उनके श्राद्ध में उनके परिवार द्वारा दिवा रास प्रस्तुत किया गया था, और फिरोई (प्रथम पुण्यतिथि) पर भी, रास पुनः प्रस्तुत किया गया था। दिवंगत गुरु का अपनी रचना से ऐसा ही जुड़ाव था।

लोकप्रिय रास के रूप में दिवा रास अन्य रास प्रस्तुतियों से भिन्न है क्योंकि यह दिन के समय प्रस्तुत किया जाता है, इसमें श्रीकृष्ण और राधा की दिव्य लीला की कथा में नए पात्रों का समावेश होता है, और वृंदावनवासियों के दैनिक जीवन में दिव्य पात्रों की प्रेम लीला की अन्य घटनाओं और प्रसंगों के साथ इसका सामान्य संबंध होता है। नीति लीला नाटक ब्रजवासियों के दैनिक जीवन की घटनाओं में से एक है जहाँ भगवान कृष्ण की गोपियों के साथ लीलाओं की पूजा की जाती थी और नृत्य नाट्य रूप में उनका मंचन किया जाता था। दिवा रास को भी वृंदावन की गोपियों के दैनिक जीवन की अनमोल घटनाओं में से एक माना जाता है। इसलिए माना जाता था कि इसे दिन के समय ही किया जाना चाहिए और संध्या होने से पहले, जब गायें घर आ जाती हैं, इसका मंचन समाप्त हो जाना चाहिए। युवा कृष्ण द्वारा गायों की देखभाल करने के तरीके से

संबंधित कुछ अन्य घटनाओं को भी भक्तों ने प्रेम लीलाओं के मंचन के लिए अपनाया। फूल युद्ध (फूलों की लड़ाई), जब कृष्ण के सखा, ग्वाल-बाल और गोपियाँ एक-दूसरे पर फूल फेंककर लड़ते थे, कृष्ण-राधा प्रेम के सबसे दिलचस्प प्रसंगों में से एक था। इसके अलावा, गोष्ठ-लीला, जो वयस्कों और बच्चों द्वारा निभाई जाने वाली एक ओपेरा नृत्य और रंगमंच शैली है, जिसमें युवा कृष्ण और बलराम गायों की देखभाल करने और बकासुर और धेनुकासुर राक्षसों को मारकर उनकी आत्माओं को मुक्त करने के लिए बाहर जाते हैं, नाटक दिन के समय में खेला जाता था, और जब गायें घर पहुंचती थीं उस समय समाप्त होता था।

इस प्रकार दिवा रास 18वीं और 19वीं शताब्दी की अन्य रास लीलाओं से एक विशिष्ट रूप से भिन्न है। लीला (क्रोम) की संरचना समर्पित विशेषज्ञों द्वारा सुसंगठित है, और स्वर्गीय ओझा अखम तोम्बा ने अपने मित्रों और समर्थकों के सहयोग से 1940 के दशक में इस आयोजन का आयोजन किया था। नट संकीर्तन के प्रारंभिक प्रदर्शनों के रूप में अन्य प्रारंभिक प्रस्तुतियाँ, गौरचंद्र महाप्रभु की प्रतिमा का निर्माण, जिनके माध्यम से व्यक्ति को ब्रह्मांड के परम स्वामी और देवी तक पहुँचना चाहिए, जिसका प्रतीक गीत, ढोल संगीत और सामूहिक गीत थे, अनुष्ठान के प्रारंभिक क्रमों का प्रतिनिधित्व करते हैं। नृत्य नाट्य शैली के क्रोम या संरचनात्मक क्रम इस प्रकार हैं -

संकीर्तन अनुष्ठानों के बाद, पहला प्रसंग रासधारी द्वारा राग माच (ढोल की शब्दावली का क्रम) है, फिर सूत्रों द्वारा परिचयात्मक या कंदर्प राग के रूप में गीत क्रम आते हैं, जो ता री ता ना का परावर्तनात्मक आह्वान है, और फिर गौरचंद्र महाप्रभु के हृदय में भगवान कृष्ण द्वारा अपने भाई बलराम और ग्वाल-सखाओं के साथ गायों की देखभाल करने के दृश्यों के दर्शन की पीड़ा और अभिलाषा का वर्णन है। शीमती राधा अपनी बालकनी (अटालिका) से जबोट मार्ग पर ग्वालों के साथ गायों के आगमन को देखती हैं। राधिका भी अपने प्रभु से मिलने की उत्सुकता और इच्छा का अनुभव करती हैं, अपनी गोपी सखियों को अपने हृदय की ज्वाला के बारे में बताती हैं।

अगला प्रसंग कृष्ण अभिसार है, जिसमें भगवान के रूप और स्वरूप का प्रकटीकरण होता है जब वे अपने मित्र सुबोल के साथ राधा के उपवन, राधा कुंड के पास पहुँचते हैं। यहाँ कृष्ण एकल नृत्य कर रहे हैं, जिनकी गति फूलों, फलों, मल्लिका और मालती के फूलों के खिलने की ऊर्जा को सुशोभित करती है। उपवन में फूल और फल भगवान के आगमन की आहट से अपनी रगों में स्पंदन महसूस करते हैं और मधुमक्खियां फूलों के चारों ओर उड़ती हैं। उनके पैर नोपुर पट्टियों से सुशोभित हैं, उनकी कमर किंगकिनी, बजने वाले कमरबंद से सुसज्जित है, और उपवन के पशु और पक्षी भगवान की कलाई में कंगनों की ध्वनि से उत्तेजित हो जाते हैं। झनझनाती घंटियाँ, झूलते हुए कुण्डल और किंगकिनी गोपियों को मोहित करती हैं, नोपुर चप्पल की पट्टियाँ गूंजती हैं। सुनहरे कमल के दर्शन से भगवान के हृदय में राधा के प्रेम की चाहत जाग उठती

है। अपने बाएँ हाथ में बांसुरी और राधा को अर्पित करने के लिए अपने दाहिने हाथ में कमल के साथ, यद्यपि वे उपवन के राजा हैं, फिर भी उसी की ओर बढ़ते हुए, उनका हृदय राधा के दर्शन की अभिलाषा और प्यास से भर जाता है। उपवन की ओर जाते हुए वे असंख्य बार राधा का नाम लेते हैं। वे फल-फूल देखते हैं, राधा की अभिलाषा में आँसू बहाते हैं, जिससे उनके हृदय की जलन बढ़ती जाती है।

अगला प्रसंग राधा अनुराग का है, जिसमें उस महिला का अपनी सखियों के साथ चुपचाप प्रभु की प्राप्ति की कामना से आगमन होता है। वह अपने हृदय में भी यह हलचल महसूस करती है कि वह समाज में अशुभ घटनाओं का कारण बनी है, उसका प्रेम अब अग्नि बन गया है, उसे मृत्यु के देवता के श्राप का भय नहीं, बल्कि उनके प्रति उसका प्रेम असहनीय हो गया है। यदि उसकी सास उसे खोज लेती है, तो उसे शर्म आती है, लेकिन फिर भी उसे ऐसा लगता है जैसे बाघ उस पर नज़र रखे हुए है, जैसे उसकी सास उसके हर कदम पर नज़र रख रही हो। यह जीवन कितना असहनीय है, कि उसे यह जीवन चिंताओं में बिताना पड़ा, कि भीतर की जलन इतनी तीव्र है, कि बचपन में उसे इन चिंताओं का एहसास ही नहीं था कि वह मोहल्ले में एक उपद्रव बन गई थी, और उसकी स्वतंत्रता के छिन जाने का शोक मनाया जाता है, कि अपने प्रभु से तृप्ति की अधूरी इच्छा में, वह मरना भी पसंद करेगी।

वह अपनी सखियों से विनती करती है कि वे उसे सलाह दें कि वह इस पीड़ा के साथ जीवन कैसे व्यतीत करे। पिरिति का रोग इतना प्रबल है और यह कैसे हुआ कि बिधि या श्रद्धा ने ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी कि उसका हृदय अब प्रेम की पीड़ा सहन नहीं कर पा रहा है।

तब सखी तुलसी अपनी स्वामिनी से विनती करती है कि वह चिंता न करे, क्योंकि वह श्याम को ढूँढ़ने और उसे समाचार सुनाने के लिए तुरंत वन में जाएगी। इस वृंदावन में, तुलसी उनके मिलन की व्यवस्था करने के लिए मौजूद है। राधा की पीड़ा को समझते हुए, बुद्धिमान तुलसी शीघ्रता से उपवन की ओर प्रस्थान करती है, और श्याम के पास शीघ्र पहुँचने की इच्छा से, सभी दिशाओं में उत्सुकता से देखती है। इस प्रकार वह मदन कुंज, श्याम कुंज के उपवनों को खोजती है, और श्री कुंज में भगवान को पाती है। भगवान उसका स्वागत करते हैं और उससे राधा के बारे में पूछते हैं।

तब तुलसी तुलसी गीत गाती है, जो राधिका के मौन क्रंदन की कहानी है, जो अपने आचरण के कारण समुदाय में होने वाले कोलाहल से भयभीत थी, लेकिन अपने प्रभु के प्रति उसका प्रेम उसे चुप नहीं रहने दे सका, और वह उनसे मिलने की इच्छुक थी, फिर भी ऐसा करने में असमर्थ थी।

कृष्ण, कृष्णगीत का विषय हैं, जैसा कि सूत्र या स्वयं भगवान द्वारा गाया गया है कि राधिका उनका धन, उनकी आत्मा और उनका जीवन हैं, राधा परम प्रेम की गुरु या शिक्षिका हैं, राधा ही अंतिम श्रृंगार हैं, वे परम चेतना और ध्यान हैं, राधा ही ज्ञान हैं,

उनका एक क्षण के लिए भी दर्शन न होना सौ युगों के मिटने के समान है, उनका संपूर्ण जीवन ही राधा है, उनकी शक्ति है, और वे ही उनके गले का हार हैं।

तुलसी अपने प्रभु के वचन सुनकर प्रसन्न थीं, दो देवों के मिलन से प्रसन्न थीं, वे यह सुनिश्चित करेंगी कि वे तूफ़ान के आगमन पर चमकती बिजली की चमक बिखेरें, वे तोमल वृक्ष पर स्वर्ण लताओं का चक्कर लगाएँ, वे तालाब में एक ही समय में सुनहरे और नीले कमलों का खिलना सुनिश्चित करेंगी।

इस प्रकार भगवान से मिलन से संतुष्ट होकर, वह राधा के पास लौटी और उन्हें भगवान कृष्ण की प्रतीक्षा का समाचार सुनाया, कि उनके लिए उनकी चाहत, उनके लिए उनकी चाहत से भी अधिक है। कि भगवान कृष्ण बांसुरी एक तरफ रख देते हैं और उनकी चाहत में दण्डवत हो जाते हैं।

अगला दृश्य साजों का था, अर्थात् भगवान कृष्ण से मिलन के लिए राधा और गोपियों की तैयारी और आगमन। सखियाँ उन्हें घेर लेती हैं और उपयुक्त अवसर के लिए उन्हें तैयार करती हैं। वह अपने बालों में कंघी करती हैं, बालों में श्रृंगार सजाती हैं, नाक पर चंदन (तिलक) लगाती हैं, और चंदन के ऊपर लाल सिंदूर की एक लकीर लगाती हैं, जो उनके चेहरे पर एक अनोखी चमक लाती है। वह सबसे अच्छी चूड़ियाँ और अंगूठियाँ चुनती हैं, उन्हें अपनी उंगलियों और कलाइयों में पहनती हैं और अपने भगवान को मोहित करने के लिए तैयार होती हैं। वह अपने मदन मोहन श्याम को मंत्रमुग्ध करने में प्रसन्न होती हैं।

इस प्रकार वे भगवान से मिलने के लिए चल पड़ीं, जिसे हमने राधा अभिसार कहा, उनके होठों पर माधव और मन में गुरु का आशीर्वाद था।

राधा अभिसार 'गीत' के गीत उसकी यात्रा का वर्णन करते हैं, कि गोपियाँ उसे घेरे हुए हैं, कि वह बढ़ते चाँद की तरह चमकती है, कि सीढ़ियाँ सुखद हैं, और राधा चाँद से भी अधिक चमकती हैं, सुनहरे चंपक फूल से भी बड़ी हैं, और कि उसकी सखियाँ चित्रासखी और चंपकलता सुचित्रा चामोर को पकड़े हुए हैं और वे भगवान से मिलने के लिए आगे बढ़ती हैं -इस प्रकार गहन घटना की प्रत्याशा का वर्णन है। राधिका मध्य में चमकती हुई हैं, ललिता दाईं ओर और बिशाखा बाईं ओर हैं, उनके चारों ओर सभी प्यारी सखियाँ हैं, राधिका वृंदावन की सड़कों पर धीरे-धीरे, फिर भी जानबूझकर चलती हैं। सूर्य कुंड में, वह देवता सूर्य से प्रार्थना करती है, और उनके आशीर्वाद से, वह निकुंज तक पहुँचती है। यह भावना कि वह निश्चित रूप से श्याम से मिलेगी, नोपुर के साथ प्रेम का गुण इतना प्रबल है कि वह मार्ग का चुनाव करने में असमर्थ है, पर इतनी तेज़ी से चल नहीं सकती। प्रेम का प्रवाह इतना प्रबल है, हृदय की ज्वाला इतनी प्रबल है कि होठों पर कृष्ण का नाम लिए वह चल पड़ी है। धीरे-धीरे कदम बढ़ाते हुए वह अपनी सखियों से रास्ता पूछती है, जिससे उसे पसीना आ जाता है, स्वर्ण आभूषण भारी हो जाते हैं, हृदय की पीड़ा बढ़ जाती है, और कदम धीमे हो जाते हैं। वह ललिता को गले लगाती

है और बिशाखा पर झुक जाती है, दिशाएँ नहीं समझ पाती, और विनती करती है कि श्याम से मिलने के लिए उसे कितनी दूर जाना होगा।

सुनो हे राधिका, लक्ष्य निकट है, तुम मार्ग पर श्याम के चरणों के चिह्न देख सकती हो, जिससे तुम प्रभु के शरीर की गंध को ग्रहण कर सकोगी। मार्ग की धूल अब राधा के शरीर पर लग चुकी है, जिससे धूल स्वयं प्रभु के शरीर की गंध उत्सर्जित कर रही है। इस प्रकार गीतों और नृत्यों द्वारा व्यथा से भरी एक लंबी यात्रा का चित्रण किया जाता है, और फिर मिलन शुरू होता है।

भगवान राधा से आगे आने की विनती करते हैं, कहते हैं कि वे बेसब्री से उनकी प्रतीक्षा कर रहे थे, राधा ही उनकी संपत्ति हैं, उनकी आत्मा हैं और उनकी दृष्टि का केंद्र हैं।

कृष्ण द्वारा उन्हें पकड़ने की कोशिश में राधा उनके आगे बढ़ने से रोकती हैं और झुकने से इनकार कर देती हैं, जिसका वर्णन सखियों ने इस गीत में किया है, 'हमारी सखी राधिका को देखो, वह उन्हें देखे बिना नहीं रह सकती, लेकिन जब वे निकट होते हैं, तो वह उनके आगे बढ़ने से इनकार कर देती हैं।' राधा के इस व्यवहार पर कृष्ण बहुत मोहित हो जाते हैं। उनके गीत के साथ, सखियाँ राधा को कृष्ण के पास ले जाती हैं।

अगला प्रसंग, रास नृत्य, पूरे आयोजन का सार है, सबसे पहले जुगोल रूप, दोनों के मिलन का मूर्त रूप, जब सखियाँ दोनों की सुंदरता का गान करती हैं, कि सुनहरी लता सुंदर तोमल वृक्ष को घेरे हुए है, कि नए तूफ़ानी बादल तेज़ बिजली से चमक रहे हैं, और कि स्वर्ण कमल और नील कमल एक साथ खिल रहे हैं, कि भगवान और देवी का दर्शन अपनी सुंदरता में अतुलनीय है, और कि इस दर्शन के आनंद का कोई अंत नहीं है। तब भगवान कृष्ण इस आयोजन का आनंद व्यक्त करते हैं, नृत्य करते हैं और कुंज में अपना उचित स्थान ग्रहण करते हैं, जिसके पीछे राधा भी आती हैं और उनके बाईं ओर खड़ी हो जाती हैं। इस क्षण की आश्चर्यजनक घटना अनंग मंजरी के तीसरे पात्र का नृत्य है, जिसकी रास आयोजन में एक विशेष भूमिका है, कि वह कहीं से भी (विशेषकर उत्तर-पूर्व से) आती है, और भगवान कृष्ण के दाईं ओर अपना स्थान ग्रहण करती है।

अनंग मंजरी की सहज उपस्थिति के साथ, दोनों देवियों के मिलन का मंचन, दिवा रास का मुख्य प्रसंग है। अनंग मंजरी, जिन्हें वृंदावन के पौराणिक इतिहास में गुप्त पात्र माना जाता है, लेकिन कृष्ण के साथ उनके विशेष संबंध की एक विशेषता है, क्योंकि उन्हें अलग-अलग युगों में लक्ष्मण, बलराम और नित्यानंद का अवतार माना जाता है। अनंग मंजरी की भूमिका और चरित्र के चित्रण में, भगवान के भाई, रक्षक और देखभालकर्ता के रूप में, रिश्तेदारी के तत्व में भगवान की सेवा का अत्यधिक महत्व है। इसलिए रास लीला में अनंग मंजरी की उपस्थिति दिव्य क्रीड़ा में सबसे अनमोल योगदान

है। अब सखियों और सूत्रों द्वारा वृंदावन के विस्तार, अस्सी क्रॉस के रूप में फैले क्षेत्र, कुंडों या कुंजों -राधा कुंड, श्याम कुंड, जहां भगवान कृष्ण और राधा उपवन में रास रचाते हैं, के गीत गाए जाते हैं। स्तुति प्रदीप्त स्वर्ण मणि मंदिर, उपवन में रत्नों के मंदिर, उत्कृष्ट देवताओं के प्रेम स्थल की होती है। तीसरी महिला भी उपस्थित होती है और इस स्थान को अनंग अंबुजा के नाम से जाना जाने लगा। तीनों इस कृत्य में एक सुखद छवि हैं, कि वे उपवन का एक मनभावन आभूषण बन गई थीं। कवि तीनों की एक साथ उपस्थिति की कल्पना कैसे करेगा, यह एक विचार है। कवि नरोत्तम ने जिस लीला की कल्पना की है, उसमें उन्होंने सम्पूर्ण रस का प्रदर्शन किया। ये भँवर नृत्य उस योगपीठ के चारों ओर प्रदर्शित होते हैं जहाँ तीनों खड़ी हैं। तीनों प्रेम, भावना और मुस्कान से एक-दूसरे को निहारते हुए नृत्य करती हैं, जबकि सखियाँ उन्हें घेरे रहती हैं। कवि नरोत्तम ने इस रस के प्रवाह की कल्पना भी नहीं की होगी।

पराा स्वर उत्सर्जन के साथ, मापोप का नृत्य क्रम शुरू होता है, जिसमें मिलन की पूर्व-क्रीड़ा को दर्शाने के लिए प्रबल कोमल और अन्य विविध गतियाँ होती हैं। फिर नृत्य का चरमोत्कर्ष भंगी परेंग अचौबा (शारीरिक रूप की रचनात्मक मुड़ी हुई मुद्राओं की आदि माला) के अनिवार्य रूप में होता है।

"दाईं ओर चमकती हुई श्वेत रंग की अनंग मंजरी विराजमान हैं।
राधा के समान सुंदर, प्रेम और कामना की असीम भावना से युक्त।
बाईं ओर राधा विराजमान हैं, स्वर्ण से भी श्रेष्ठ।
श्रीकृष्ण के प्रेम को समेटे हुए उनकी चमक।
बीच में कृष्ण सूक्ष्म झुकी हुई मुद्राओं में विराजमान हैं।
मनमोहक मुस्कान के साथ बांसुरी बजाते हुए।
ये तीनों मुद्राएँ गोपियों के हृदय को प्रसन्न करती हैं।
ये तीनों मिलकर रसराज का प्रतीक हैं।
चरणों में अनंग मंजरी हैं, हृदय में श्री कृष्ण और मुख में राधिका।

आनंद का कोई अंत नहीं, उन्हें एक रूप में देखना, इसका नाम मदन मोहन है और स्वाद में परम है।

कवि नरोत्तम सदैव दर्शन की प्यास में रहते हैं।
दिन और रात आँसुओं के साथ बिताते हैं।
प्रेममय हृदय से वे ये गीत गाते हैं।
प्रेम का जाप ही मंत्र है, कृष्ण का स्वरूप।
चौबीस अक्षरों से निर्मित।
श्याम का मुख चन्द्रमा के समान है।
और उनका प्रेम तीनों लोकों के लोक।
प्यारे दोस्तों, श्याम सूर्य से भी अधिक चमकता है। और उसके तीन मोड़ हैं।

जितना अधिक आप उसे निहारते हैं, हृदय को उतना ही अधिक आनंद मिलता है।

उसका शरीर सिंहासन है, सभी चंद्रमाओं से जगमगाता हुआ, वह कुंज का स्वामी है।

कानों की बालियाँ बिजली की तरह लहराती और चमकीली हैं।

चंद्रमा के दो मुख प्रतीत होते हैं।

बढ़ते चंद्रमा के अष्टमी की तरह, नाक पर चंदन की एक लकीर लटकी हुई है।

उंगलियों की गति दस बढ़ते चंद्रमाओं के समान है और हाथों से बांसुरी लयबद्ध तरंगों में मधुर धुनों में घूमती है।

पैर भी दस चंद्रमा हैं, जो पैरों की झन झन की ध्वनि के साथ नृत्य को सुशोभित करते हैं।

कानों पर बाली चमकती है, आँखों की झलक कमल के समान है और घूमता हुआ नृत्य कभी समाप्त नहीं होता।

चंद्रमाओं की पंक्तियाँ चमकती हैं। बालों की लटों में विष है।

वेशभूषा केवल नृत्य

की सुंदरता से संसार को मोहित करने के लिए।

श्री कृष्ण का वस्त्र स्वर्णिम रंग का है, जो आश्चर्यों का प्रतीक है।

कवि नरोत्तम उनके दर्शन की कामना और व्याकुलता रखते हैं।

भंगी नृत्य के बाद, नर्तन के रूप में उत्सव के प्रति अन्य व्यक्तिगत प्रतिक्रियाएँ होती हैं, जब भगवान कृष्ण और राधा एक के बाद एक नृत्य करके अपने मिलन की संतुष्टि का प्रदर्शन करते हैं, जिसके बाद अनंग मंजरी भी व्यक्तिगत रूप से इस पर प्रतिक्रिया देती है, जिसमें गोपियों की पूरी टोली और भगवान और अनंग मंजरी सहित देवी अबीर या अबीर खेल में भाग लेती हैं। लाल सिंदूर के साथ यह खेल, रंग और उल्लास का एक संतुष्टिदायक, मनमोहक, कामुक प्रयोग है, जो उत्तर भारत में भी प्रसिद्ध है।

इसके बाद, अंतिम परिणति भगवान और देवी का जलकेली तालाबों में डुबकी लगाने और अंबुजा मंदिर में अंतिम विश्राम के लिए तैयार किए गए आसनों पर विश्राम करने के साथ होती है, जहाँ भगवान और देवी फिर से एक साथ शयन करते हैं, जबकि शेष सखियाँ पान, सिंदूर या चंदन चढ़ाकर, कुछ पसीना बहाने के लिए पंखे का उपयोग करके, और कुछ पीने के लिए जल चढ़ाकर, जिसकी कवि कामना करता है, उल्लास में भाग लेती हैं। रास लीला के वरिष्ठ लोग इसे संभोग और स्वाधीन कहते हैं, जो रास लीला परंपरा में भंगी परेंग अचौबा के साथ अनिवार्य हैं। अंतिम चरण जुगल आरती और कुंज आरती है, जिसमें अग्नि आहुति के साथ दोनों की पूजा और कुंज की पूजा की जाती है।

# ‘उ मानिक राइतोंग’ खासी लोक कथा का विश्लेषण

**डायाफिरा खारसाती**

उ मानिक राइतोंग की कथा प्राचीन काल से खासी और जैंतिया लोगों के बीच कही और दोहराई जाती है। यह कथा कई वर्षों तक मौखिक रूप में ही थी परंतु ब्रिटिश संग्रहालय के रिकॉर्ड के अनुसार वर्ष 1899 ई. में सर्वप्रथम राबोन सिंह खारसुका ने इसे ‘का किताब जिङ्ग्फवार’ नामक संग्रह में इसे लिखित रूप दिया। यह कथा मेघालय की पहाड़ियों में जानी जाती है। हालाँकि क्षेत्र और लोगों की समृद्ध कल्पना के आधार पर इसके विभिन्न रूप मिलते है। यह राजा की पत्नी ‘का लिएङ्ग्मकाव’ और उ मानिक राइतोंग नामक एक अनाथ और बहिष्कृत व्यक्ति के बीच की प्रेमकथा है। खासी में राइतोंग का अर्थ है अकेला या पारिवारिक समर्थन से बिलकुल वंचित। राबोन सिंह द्वारा लिखित इस कथा का सार कुछ इस प्रकार है कि “उ मानिक राइतोंग के सभी करीबी रिशतेदारों की मृत्यु हो चुकी थी और वह बिलकुल अकेला रह गया था। वह हमेशा खुद को राख से ढककर और फटे हुए कपड़े पहनकर दिन रात शोक मानता था। यद्यपि रात को स्नान करके भोजन के बाद वह अपनी शाराती( बांसुरी )पर मातमी धुन बजाता था। राजा की पत्नी ‘का लिएङ्ग्मकाव’जो अपने पति के राज्य दौरे पर जाने के बाद से अकेली पड़ गई,उसने दूर बांसुरी का शोकपूर्ण धुन सुना। वह कई रातों तक वह धुन सुनती रही और आखिरकार एक रात वह उस धुन का पीछा करते करते उ मानिक राइतोंग की कुटी में पहुँच गई। ‘का लिएङ्ग्मकाव’ ने भीतर जाने के लिए ‘उ मानिक राइतोंग’ को पुकारा परंतु बहुत समय तक उसने उसे भीतर आने नहीं दिया। बहुत अनुरोध करने के बाद जब दरवाज़ा खुला तो उसके सामने साफ़ सुथरे कपड़े पहने हुए एक सुंदर युवक खड़ा था। उसे उसी समय से उस युवक उ मानिक से प्रेम हो गया। दोनों में प्रेम संबंध हुआ। का लिएङ्ग्माकाव गर्भवती हुई और उसने एक पुत्र को जन्म दिया। कुछ वर्षों बाद,राजा लौटा और अपनी पत्नी को दस महीने के बेटे के साथ देखकर आश्चर्यचकित रह गया। पूछताछ करने पर भी रानी ने उसे यह नहीं बताया कि उसके बच्चे के पिता कौन है। राजा ने एक दरबार बुलाया और एक दिन आदेश दिया कि उसके क्षेत्र के सभी पुरुष एक-एक केला लेकर दरबार में उपस्थित होंगे। जिस पुरुष के हाथ

से रानी लिएङ्ग्मकाव का बच्चा केला खा लेगा तो वही उसका पिता होगा। ऐसा न होने पर राजा ने पूछा कि क्या सभी पुरुष उस दरबार में आए थे तब पता चला कि उ मानिक गायब था। उस क्षेत्र का होते हुए भी उ मानिक पूरे गाँव समाज से स्वयं को अलग रखता था और गाँववालोंभी उसे अपना अंग नहीं मानते थे। लेकिन राजा नहीं चाहता था कि वह इस आदेश का पालन न करे। उ मानिक को बुलाया गया और अपने साथ एक केला लाने को कहा गया। उ मानिक के हाथ में केला देखकर बच्चा तुरंत उसके पास चला गया। दरबार के अनुसार उ मानिक को पीट पीटकर मार डाला जाना था परंतु उसने राजा से अंतिम संस्कार की चीता तैयार करने का अनुरोध किया,जहाँ वह आत्मदाह कर लेगा। एक दिन गाँव के लोगों ने अंतिम संस्कार की चिता तैयार की। उ मानिक ने अपनी सबसे अच्छी पोशाक पहनी और रास्ते भर बांसुरी बजाते हुए आगे बढ़ा। उसने उस चिता के चारों ओर परिक्रमा की और अपनी बांसुरी को ज़मीन में उल्टा गाड़करजलती हुई आग में कूद गया। रानी लिएङ्ग्मकाव भी उसी के साथ उस चिता में कूद गयी। चिता जल में बदल गयी और मान्यता यह है कि उस जगह उल्टे पत्तों वाले बाँस उगने लगे।"

इस कथा से प्रेरित खासी साहित्य में कई रचनाएँ की गयी जिसकी चर्चा की जा सकती है। इस कथा पर आधारित एच.डब्लू स्टेन ने खासी में 'का महादेई' नाटक,डोनबोक टी. लालू ने 'पलुह का जिंगीइड' लघु उपन्यास और जेसपिल स्यिएम ने 'का थ्यम्मेय उ हयन्निएव ट्रेप की साव डोरबार ब्लेय'कविता की रचना की। खासी भाषा के अलावा असमिया भाषा में भी इस कहानी पर आधारित दो फिल्में बनाई गयी जो हैःप्रसिद्ध गायक भूपेन हजारिका ने द्वारा 1964 ई में 'का स्वाराति' और 1984 में अर्धेंदु भट्टाचार्य द्वारा निर्मित 'उ मानिक राईतोंग।

एच. डब्लू स्टेन ने 1983 ई में इस कथा का नाम 'उ मानिक राइतोंग' न देकर 'का महादेई' अर्थात रानी दिया। इसे पहली बार 1981 और 1983 के बीच समाचार पत्र 'उ क्रिटिक' में क्रमबद्ध प्रकाशित किया गया। इस नाटक के पाँच अंग है। यह नाटक गीतिनाट्य रूप में लिखा गया जिसका एक तिहाई संवाद कविता के रूप में लिखा गया। नाटक के पात्रों में उ स्यिएम,का महादेई, उ पाटोर,उ बासान,उ साङ्गोत,उ श्ंगाइन,उ मानिक,का शाकरी,उ नोङ्ग्क्रेन ब्लेई और उस क्षेत्र की प्रजा शामिल है। हालाँकि यह नाटक 'मानिक राइतोंग'की कथा पर आधारित है परंतु इसमें कुछ विविधताएँ भी है। नाटक की शुरुआत मध्य से होती है जहाँ राजा के आगमन की उम्मीद से तीन महीने बाद दूत से यह खबर भेजा गया कि रानी ने एक पुत्र को जन्म दिया है। जब राजा दो वर्षों से अधिक समय के लिए दूर था तब पुत्र के जन्म ने राज्य के सभी लोगों विशेषकर बुज़ुर्गों को हैरान कर दिया। उन्हें कुछ भी सबूत नहीं मिल सका। ऐसी स्थिति में भी रानी को कोई चिंता नहीं थी। राजा के वापस आने पर लोगों के साथ साथ बुज़ुर्गों ने भी उनका गर्मजोशी से स्वागत किया। तुरंत एक दरबार बुलाया गया और राज्य के सभी लोग उपस्थित हुए। दरबार में यह पता लगाने का प्रयास किया गया कि 'का महादेई' के बच्चे

के पिता कौन है। पूरे नाटक में इस नाटककार ने इस कथा के होने का कारण पर ध्यान दिया। उनके इस नाटक से पता चलता है कि यह नाटक 'राइतोंग नामक' गाँव से निकली है। नाटक की भाषा सशक्त, स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष है। राजा, जिसने अपनी पत्नी के साथ पाँच महीने बिताए थे, दो साल से अधिक समय तक उसे छोड़ कर एक संदेश भेजना तक भूल जाता है। जब वह उसके साथ था, तब भी वह अपने राज्य के लोगों और मामलों में व्यस्त था। उसे महादेई के लिए 'कारण' होने का दोषी ठहराया गया था और महादेई उ मानिक के लिए कारण थीं। कहने का तात्पर्य यह है कि अगर राजा महादेई को बहुत समय के लिए छोडकर नहीं जाता तो महादेई को उ मानिक से प्रेम नहीं होता और शायद यह कथा ही नहीं होती। 'ऐसा लगता है कि अंत निकट है,अब मैं जानता हूं कि जिसने शुरुआत की, वह यहाँ नहीं है' उ श्ंगाइन कहता है। इसने दावा किया कि वह गाँव के हर आदमी को जानता है और राजा, बुजुर्गों और लोगों को आश्वासन दिया कि व्यभिचारी उसके गाँव से नहीं होगा। परंतु वह गलत था, क्योंकि व्यभिचारी वास्तव में सबसे कम अपेक्षित व्यक्ति था जो गाँव का मनहूस उ मानिक था। महादेई शुरू में बांसुरी की धुन की प्रेमी के रूप में दिखाई दीं जो उसे उ मानिक राइतोंग की झोपड़ी तक ले गई। उसे उससे प्यार हो गया और फिर उसने उसे अपने साथ संबंध बनाने के लिए मजबूर किया। राजा को दुखद नायक बनाकर, स्टेन ने नाटक में एक प्रकार का न्याय लाया। स्टेन ने का महादेई की इस स्थिति का कारण राजा को बताया। उसने इच्छा व्यक्त की कि जब उसकी शादी राजा से होगी तो वह हर बार बच्चे की कामना करती। लेकिन राजा के पास उसके लिए समय नहीं था और वह इस हद तक व्यस्त था कि वह उसे पूरी तरह से भूल गया था। स्टेन के अनुसार, राजा नपुंसक प्रतीत होता था, क्योंकि उन्होंने उल्लेख किया था कि यद्यपि महादेई ने राजा के साथ पाँच महीने बिताए, लेकिनलेकिन वह गर्भवती नहीं हुई, जबकि उ मानिक से एक बार मिलने के बाद ही उसे बेटे का आशीर्वाद मिल गया। स्टेन 'का महादेई' में मूल कथा के सभी मुख्य तत्व मिलते हैं। इस कथा में बांसुरी की भूमिका, बच्चे के पिता की पहचान सुनिश्चित करने के लिए केला, 'का महादेई'जो उ मानिक की झोपड़ी में गई थी, चिता, बांसुरी जो उल्टी लगाई गई थी, और महादेई जो उ मानिक के पीछे-पीछे चिता तक गई। स्टेन के इस संस्करण में 'कारण' खोजने का निर्णय और दुखद नायक की खोज है दूसरे संस्करणों से भिन्न है। यह एक त्रासदी नाटक के रूप में सामने आता है।

जेस्पिल सियेम और डोनबोक टी. लालू के संस्करणों का स्रोत एक ही था कि यह कथा री भोर क्षेत्र से निकली है। उन दोनों ने उल्लेख किया कि उ मानिक का परिवार मूल रूप से सुतंगा का था और वे एक शाही परिवार से थे। उन्हें राजा ने भगा दिया, जिन्होंने उ मानिक को सिंहासन के लिए संभावित खतरे के रूप में देखा। उन दोनों ने लिखा कि उ मानिक लामारे कुल से था और हमारे पूर्वजों द्वारा सौंपी गई मौखिक परंपराओं से यह माना जाता है कि लामारे कबीले वास्तव में सुतंगा के शासक कुल थे।

स्पष्टता के लिए,दोनों कहानियों को अलग-अलग देखा जा सकता है। सबसे पहले हम रेवरेन फादर स्ल्वनुस स्ङ्गि द्वारा रिकॉर्ड किए गए जेस्पिल स्थिएम के इस कहानी पर आधारित कविता को देखते है।जेसपिल ने उ मानिक और का लिएङ्ग्मकाव कीकथा के लिए लगभग 6335 पंक्तियाँ समर्पित की हैं। कविता के अनुसार, जिस गाँव में वे रहते थे उसे तिहविह के नाम से जाना जाता था जो मादर मास्कुत के राजा द्वारा शासित था, जिसे माईलोंग मलङ्गियांग एवं स्यिएम साइट्नीयर के नाम से जाना जाता है। साम्राज्य बहुत बड़ा था और इसका क्षेत्र गंगा नदी तक फैला हुआ था। इस कविता से हमें पता चलता है कि माईलोंग एक ऐसा राजा था जो महिलाओं से संबंध तो रखता परंतु उनसे शादी नहीं करता। उ मानिक की एक बहन थी जिसका नाम सानिबोन था और उसकी माँ का नाम निभा लामारे था और उसके पिता को निसिर माशलीनाम से जाना जाता था। 'का लिएङ्ग्मकाव को रेनघंग कुल मे बुह के नाम से भी जाना था और उनके पिता का नाम साइवीर शादाप था। जेसपिल स्यिएम की कृति में यह बात स्पष्ट होती है कि 1960 और 1970 के दशक में जब फादर सिलवानुस ल्यङ्ग्दोह को जेसपिल स्यिएम ने इस कथा का विस्तृत संस्करण फादर से सांझा किया जब वे लोगों को बहुफ़सली खेती सिखाने के लिए री भोई के आसपास भ्रमण कर रहे थे। जेसपिल स्यिएम की इस लंबी कविता के अनुसार उ मानिक और 'का लिएङ्ग्मकाव' एक-दूसरे को लंबे समय से जानते थे। लिएङ्ग्माकाव उ मानिक से शादी करना चाहती थी लेकिन लड़की के मामा को लगता था कि उनकी भतीजी मादुर मसकुट के राजा माईलोंग के लिए बनी है। यह एक प्रकार की जबरन शादी थी और माईलोंग को अपने राज्य से दूर उन महिलाओं के साथ रहने में अधिक दिलचस्पी थी जो उनके शासन के तहत छोटे राजाओं और उनके मंत्रियों द्वारा लायी जाती थी। इसके पश्चात उ मानिक ने अपनी बहन और अपने माता-पिता को खो दिया और तब से वह खुद को राख से ढककर और अपनी बांसुरी पर शोकपूर्ण धुन बजाते हुए एक अकेले व्यक्ति के रूप में रहने लगा। हालाँकि लिएङ्ग्मकाव की शादी राजा से हुई थी, लेकिन वह कभी खुश नहीं थी। जब राजा बाहर होता था तो वह रात में चुपचाप उ मानिक से मिलने जाती। कविता से यह स्पष्ट है किउ मानिक ने कई मौकों पर लिएङ्ग्मकाव को अपने पास आने नहीं दिया लेकिन अंततः उसकी आगे वह झुक गया। अंत में यह कथा भ प्रेमियों के चिता पर कूदने से होती है।

डोनबोक टी. लालू द्वारा लिखित 'प्लुह का जिंग ईएड ' अर्थात 'प्रेम को अग्नि' जो 2005 में प्रकाशित हुआ था, उसे वर्ष 1999 में लिखा गया था। डोनबोक टी. लालू की प्रस्तावना में दो मुखबिरों जोवेल म्यन्सोंग राइतोंग गाँव और सोहींगखां से स्नोह खारुम्नुइद का नाम बताया गया है। उनके इस उपन्यास के अनुसार उ मानिक का परिवार सुतंगा से आकर तिहवीह में बस गए, जब उ मानिक लगभग 18 वर्ष के थे और का लिएङ्ग्मकाव 14 वर्ष की थी। यह का लिएङ्ग्मकाव का परिवार था,जो शुरुआत में उ मानिक की मदद के लिए सामने आया। उन्होंने उसे खेती करने के लिए ज़मीन दी और उसे खाना

भी दिया जिससे दोनों परिवार बहुत करीब आ गए। उ मानिक और का लिएङ्ग्मकाव भी एक-दूसरे के बहुत करीब आ गए। वे एक दूसरे से प्रेम करने लगे। जब उ मानिक के जीवन में त्रासदी आई तब वह टूट गया और उसे कोई सांत्वना नहीं दे सका। वह लोगों की संगति से बचकर अकेले रहने लगा। ऐसी स्थिति में राजा ने ही उसकी मदद की। राजा ने उसे खेती के लिए ज़मीन दी और अपने घर के पास ही उ मानिक के लिए घर बनवाया। इसी दौरान राजा ने शादी करने का फैसला किया। उसने दुल्हन चुनने के लिए युवतियों का नृत्य आजोजित किया। उसने का लिएङ्ग्मकाव को चुना परंतु वह तैयार नहीं थी क्योंकि उसे राजा पसंद नहीं था। राजा उससे उम्र में बहुत बड़ा था। उसके क्षेत्र में राजा को एक बुरे व्यक्ति के रूप में जाना जाता था जो अक्सर मैदानी इलाकों की यात्रा करना पसंद करता था। का लिएङ्ग्मकाव उ मानिक से शादी करना चाहती थी लेकिन उसके मामा नहीं मान रहे थे। जबरन शादी के पाँच साल बाद राजा माइलोंग और रानी का लिएङ्ग्मकाव एक दूसरे से अलग हो गए। राजा हमेशा राज्य का दौरा करने हमेशा घर से दूर रेहता था। लिएङ्ग्मकाव के लिए उ मानिक से मिलने का यह अवसर था। उ मानिक ने रानी के इस प्रयास को कभी सफल नहीं होने दिया। हद तो तब हो गयी जब रानी को टालने के लिए उ मानिक खेतों में ही अपने लिए खाना बनाने लगा। लिएङ्ग्मकाव जब उसे ढूंढने में सफल हुई तब वह उ मानिक के सामने बीमारी का बहाना करती और उसे उसके घर ले जाने का अनुरोध करती। लेकिन फिर भी वह उ मानिक को लुभा नहीं सकी। कई बार इंतज़ार करने के बाद और उ मानिक के शोक धुनो को सुनने के बाद उससे दोबारा मिलने का फैसला करती। इस बार वह सफल हुई और दोनों के बीच संबंध स्थापित हुआ। राजा ने जब दरबार बुलाया और केले के माध्यम से जब पता चला कि बच्चे के पिता उ मानिक है तब निर्णय यह हुआ कि उसे नमक के गड्ढे में ज़िंदा दफ़ना दिया जाए। उस गड्ढे में जाने से पहले उ मानिक ने अपनी बांसुरी ज़मीन पर उलटा गाड़ दिया। उसके पश्चात जब मानिक का अंतिम संस्कार हो रहा था तब का लिएङ्ग्मकाव चिता के पास गयी और उसमें कूद गई क्योंकि उसके प्रेम में उसके साथ मरना उसने सही समझा। लालू की कृति में हम उ मानिक को दी गई सज़ा में अंतर देखते है। उ मानिक और लिएङ्ग्मकाव के देहांत के बाद उसके बेटे की कथा आगे बढ़ती है। उनका बेटा 'हिमा शिलांग' की राजकुमारी से प्रेम करता था परंतु उन्हे शादी करने की अनुमति नहीं मिली। एक दिन जब वे दोनों अलग हो रहे थे तब आखरी चुंबन के साथ वे दोनों फूलों में परिवर्तित हो गए।

जब हम स्टेन की कथा 'का महादेई' का पढ़ते है तो पता चलता है कि उसमें और मूल कथा में उतना अंतर नहीं दिखता है। इन्होने इस कथा का ज़िम्मेदार केवल और केवल राजा को ही बताया। उनके संस्करण से पता चलता है राजा के कई सालों तक उसको छोड़ने की वजह से ही उसे उ मानिक से प्रेम हुआ। दूर रहते हुए कभी भी राजा ने रानी को एक संदेश तक नहीं भेजा। रानी को बिलकुल भी खबर नहीं थी कि राजा

वापस आयेगा या नहीं। उसे इतना भी नहीं पता कि उसका पति ज़िंदा है या नहीं। स्टेन ने अपने नाटक के माध्यम से यही बताया कि राजा अगर रानी से दूर नहीं होता तो ऐसे नौबत नहीं आती क्योंकि रानी बहुत अकेली पढ़ गई थी। खासी समाज के इतिहास,प्रचलित कथाओं में गाँव व्यवस्था के अंतर्गत यह देखा गया है कि उस समय संचार को कोई माध्यम न होने के कारण पति अगर तीन साल से ज़्यादा घर से दूर बिना खबर के रहे तो पत्नी दूसरा विवाह या दूसरा वर ढूँढ सकती है। कारण यह हो सकता था कि जनजातीय समाज के लिए संतान उत्पत्ति एक महत्वपूर्ण ज़िम्मेदारी रही हो।

डोनबोक टी. लालू की लघु उपन्यास की बात करें तो उसमें मूल कथा का विस्तृत रूप मिलता है। उनके इस संस्करण से पता चलता है कि उ मानिक और का लिएङ्ग्मकाव एक दूसरे को बचपन से ही प्रेम करते थे परंतु राजा ने उसे जबरन शादी कर ली जिसके कारण उन दोनों को अलग होना पड़ा। का लिएङ्ग्मकाव जहाँ राजा से नफरत कर उ मानिक से बिछड़ने का दुख माना रही थी वही उ मानिक इसके साथ साथ अपने परिवार वालों को खोने के दुख से उभर नहीं पा रहा था।इस कृति में ऐसे संदर्भ हमें देखने को मिलते है जहाँ हमें पता चलता है कि राजा वह व्यक्ति था जो महिलाओं से संबंध तो बनाता परंतु उनसे शादी नहीं करता और उसे मैदानी इलाकों में जाने का बड़ा शौक था। राजा के जबरन शादी करने और कई अवैद्य संबंध का पता रानी को था। इस कारण वह अत्यधिक दुखी थी जिसके कारण वह अपने बचपन के प्यार के पास वापस जाना चाहती थी।

इस कथा की ऐतिहासिकता को जेसपिल स्यिएम की कविता के साथ जोड़ा जा सकता है। जेसपिल स्यिएम के बारे में यह जानना आवश्यक है कि वे उम्स्निंग में रहते थे जहाँ की यह कथा मानी जाती है। जेसपिल स्यिएम ने यह कथा अपने पूर्वज से फवार या कविता के रूप में सुना था जिसे उन्होने फादर सिलवानुस से सांझा कर प्रकाशित करवाया। उनकी यह काव्य संग्रह भी डोनबोक टी लालू जैसी विस्तृत है। एक ऐसा राजा जिसका साम्राज्य गंगा तक फैला हुआ, जेसपिल बताते है। इसको दो तरह से समझा जा सकता है। पहला यह कि राजा बहुत दूर मैदानी इलाकों तक जाता था इस कारण लोगों ने बातों बातों में विशालता को दिखाने के लिए गंगा नदी का नाम लिया होगा क्योंकि उन्हे इसी नदी का नाम पता होगा। दूसरी यह कि तब का संचार के माध्यम न होने के कारण लोगों ने ब्र्हमहापुत्र को बहुत विशाल सोचकर उसे गंगा का ही भाग समझा होगा।

आज भी उम्स्निंग के पास मानिक के नाम से राइतोंग गाँव बसा हुआ जिसे पहले उमशीर गाँव से जाना जाता था। उस गाँव में भ्रमण के दौरान पता चला कि मानिक राइतोंग की कथा केवल कथा नहीं उसमें ऐतिहासिकता भी है। उस गाँव के अंदर ठंखिएव पहाड़ के ऊपर मानिक राइतोंग और का लिएङ्ग्मकाव की याद में एक स्मृति चिन्ह है जिसका उदघाटन 1986 में आई.ए.एस डब्लू ल्यङ्ग्दोह ने किया था। उस गाँव के लोग बताते है कि उसे जगह यह दोनों प्रेमी एक दूसरे से आखरी बार मिले थे। इसके

अलावा जिस जगह मानिक राइतोंग का जलाया गया उस जगह को राइतोंग पहाड़ के नाम से जाना जाता है जहाँ वह उल्टे पत्तों वाले बाँस होते थे। गाँव के लोग बताते है कि जब इस बाँस की जानकारी ब्रिटीशों कोचली तो उन्होने उन बाँसों कोवहाँ से उखाड़कर बोतनिकल गार्डेन ऑफ लंदन में रख दिया था जिसकी पुष्टि आज भी नहीं हो सकी। उस गाँव में एक ऐतिहासिक पत्थर को आज भी संरक्षित रखा गया है,जिसके लिए यह मान्यता प्रचलित है कि उस पत्थर में जो चिन्ह है वह उ मानिक और का लिएङ्ग्मकाव के बीच का संदेशों का आदान प्रदान था। मान्यता के अनुसार जो नदी उस गाँव के पास है उसी नदी में लिएङ्ग्मकाव स्नान करती थी और जिस ज़मीन में उ मानिक खेती करता था वह भी गाँववाले जानते है।

स्पष्ट है कि मानिक राइतोंग और का लिएङ्ग्मकाव की कथा लोक विश्वास और ऐतिहासिकता का मिश्रण है। पूरे खासी समाज में उनके इस पवित्र प्रेम का उदाहरण दिया जाता है। राइतोंग गाँव के एक बुजुर्ग कहते है ₹उनका प्रेम इतना पवित्र था कि रानी ने कभी भी माइलोंग राजा को उसके पास आने नहीं दिया और मानिक राइतोंग से ही उसे एक बेटा हुआ जिसे वह प्रेम करती थी। प्रेम ही था जिसके कारण दोनों चिता में कूद गए और आज भी उनका प्रेम अमर है।

## संदर्भ ग्रंथ


1. Orality and Beyond,A North east Indian Perspective,Edited by Soumen Sen and Prof. Desmond Kharmawphlang.
2. The Oral Discourse in Khasi Folk Narrative, By Prof. Esther Syiem
3. Ka History ka thoh ka tar,By RS Lyngdoh.

# मणिपुरी कहानियाँ : विविध परिप्रेक्ष्य

**डॉ. लोङ्‌जम रोमी देवी**

भारतीय कथा साहित्य के संवर्धन एवं विकास में मणिपुरी कहानियों का महत्त्वपूर्ण अवदान है। मणिपुरी भाषा में लिखी गई कहानियों में कथानक के स्तर पर वैविध्य लक्षित किया जा सकता है। मणिपुरी कहानियाँ सामाजिक यथार्थ, राजनैतिक चेतना, बेरोजगारी एवं भ्रष्टाचार, संबंधों के क्षरण एवं दांपत्य जीवन के टकराव, स्त्री चेतना, प्रेम और पर्वतीय जीवन के समग्र अंकन आदि विषयों को लेकर रची गई हैं। बीसवीं सदी के चौथे दशक के आरंभ से मणिपुर में कहानी लेखन की शुरुआत मानी जा सकती है। हिंदी में पहली कहानी को लेकर जिस प्रकार विद्वानों में मत वैभिन्न्य है, उसी प्रकार मणिपुरी की पहली कहानी किसे माना जाए इस पर भी विद्वान एकमत नहीं है। कुछ आलोचक जहाँ लमाबम कमल की 'ब्रोजेन गी लुहोङ्‌बा' (ब्रजेन्द्र का विवाह) को मणिपुरी भाषा की पहली कहानी मानते हैं वही दूसरी ओर कुछ विद्वान श्री सर्वजीत सिंह द्वारा लिखी कहानी 'युम पानबा' को पहली कहानी मानते हैं। मणिपुरी कहानीकारों में डॉ. लमाबम कमल के साथ-साथ नोङ्‌थोम्बम कुंजमोहन सिंह, खुमनथेम प्रकाश, राजकुमार शीतलजीत सिंह, कैशाम प्रियोकुमार, सिजगुरुमयुम नीलवीर शास्त्री, महाराजकुमारी विनोदिनी देवी, युम्लेम्बम इबोम्चा, लमाबम बीरमणि, शरतचंद्र नोङ्‌थोम्बम, नोङ्‌थोम्बम श्रीबीरेन, कमल तोइजम्बा, एल प्रेमचांद, हिजम गुण सिंह, टी. थोइबी देवी, थोक्चोम अंजना चनु, अरिबम चित्रेश्वर शर्मा, एलाङ्‌बम सोनामणि सिंह, इबोहल सिंह काङ्‌जम, सगोलशेम लनचेनबा मीतै, सुनीला देवी आदि का उल्लेख किया जा सकता हैं।

मणिपुरी कहानियों में सामाजिक जीवन का कोना-कोना उभर कर आता है। ये कहानियाँ न केवल हमारे समक्ष उस समाज के साधारण व्यक्ति का चित्र उपस्थित करती हैं, बल्कि हाशिए पर स्थित समाज को भी अत्यंत सूक्ष्मता से वर्णित करती हैं। मणिपुर के चर्चित कहानीकार एच. इबोमचा की कहानी 'रंग अबीर का फीका पड़ा' इस दृष्टि से उल्लेखनीय है। तोमल और उसकी पत्नी कोबोक्लेई एक गरीब किसान से मजदूर बनने की यात्रा में आर्थिक विषमता के कारण होली त्योहार से पूर्व हर्ष-उल्लास से किस प्रकार वंचित और चिंतित रहते है, यह कहानी में रेखांकित है। उत्सवप्रिय समाज में आर्थिक विवशता पति-पत्नी को भीतर तक खिन्न कर देती है। कहानी की पंक्तियाँ देखने योग्य हैं "आज हम

क्या करने जा रहे हैं? कहीं तुम भूल तो नहीं गए कि कल 'याओशङ'(होली) है?" 'याओशङ'! कभी यह शब्द तोमल के मन को गुदगुदा जाया करता था, पर आज उसे आतंकित करता है। वह तय नहीं कर पाया कि पत्नी 'कोबोक्लेई' के प्रश्न का क्या उत्तर दे। वह उसे टुकुर-टुकुर देखता भर रहा, जैसे वह चोरी करता पकड़ा गया हो। पति के चेहरे पर तैर आई बेचारगी को ताड़ कोबोक्लेई पछताने लगी। कुछ क्षण वह इस विकट स्थिति से बाहर आने का उपाय सोचती रही पर इसमें असफल रहने के कारण उसका स्वर कुछ कठोर हो गया। अपने पति को वह इसके लिए कैसे उत्तरदायी ठहरा सकती थी? घर के पाँच प्राणियों के पेट भरने की पति की जद्दोजहद से वह अपरिचित नहीं थी।"[1] कहा जा सकता है कि तोमल संघर्षरत मजदूर है, जो अपने परिवार को सुविधाएँ उपलब्ध कराने में असमर्थ रहता है। 'शिकायत' कहानी के माध्यम से प्रसिद्ध कहानीकार खुमनथेम प्रकाश ने समाज के उस हाशिए के व्यक्ति को केंद्रीयता प्रदान की है, जिसकी समाज को आवश्यकता तो होती है, किंतु उसे सदैव उपेक्षित, तिरस्कृत और लज्जित किया जाता है। बिखरते दांपत्य जीवन की छवि भी इस कहानी में चित्रित हुई है। 'अनुत्तरित प्रश्न' कहानी में उग्रवाद की समस्या और तत्कालीन परिस्थितियों का प्रभावशाली अंकन किया गया है। एल.प्रेमचाँद की 'मिला था', चोङथाम नरेंद्र सिंह की 'मुर्दाघर', सगोलशेम लनचेनबा मीतै की 'टूटा हुआ जीवन बंधन' जैसी कहानियाँ समाज के यथार्थ को बखूबी प्रस्तुत करती हैं।

मणिपुर के प्रतिष्ठित कवि एवं कथाकार डॉ. कमल सिंह की कहानी 'ब्रजेंद्र का विवाह' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। यह कहानी केवल एक आदर्श पुत्र की संवेदनशील मनोभूमि का उद्‌घाटन नहीं करती बल्कि विवाह संबंधी पारंपरिक मानसिकता को भी चुनौती देती है। ब्रजेंद्र की स्वेच्छा के विरुद्ध उसका विवाह तय कर दिया जाता है। वह किसी भी संबंध के निर्वाह में प्रेम को अत्यंत महत्त्वपूर्ण मानता है। कहानी की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं " ब्रजेंद्र ने सोचा "हाय! एक बात भी सही ढंग से नहीं हो सकी। सौंदर्य सबके लिए है, शील मुहल्लेवालों के लिए है, मेरे लिए तो केवल प्रेम है। यह माँ ने नहीं समझा। ठीक है, उनके द्वारा खोजी गई उस लड़की की सूरत तक मैं कभी नहीं देखूँगा।" यह कहकर बड़बड़ाते हुए चला गया।"[2] आगे चलकर कहानी में प्रेम का विकास अत्यंत स्वाभाविक एवं भावनात्मक रूप से होता दिखाई देता है। 'सामीप्य' राजकुमार शीतलजीत सिंह की प्रभावशाली कहानी है, जो संबंधो की महत्ता को स्वीकार करते हुए सार्थक गृहस्थ जीवन की ओर संकेत करती है। खुमनथेम प्रकाश की 'सपने का गीत' कहानी का कथानक कार्यालय में उपजे प्रेम संबंध को उजागर करता है। यह कहानी फ्लैशबैक शैली में अत्यंत संप्रेषणीय रही है, जहाँ एक ओर कार्यालय के दो कर्मी-तोम्बा और मालती के बीच प्रेम संबंध दिखाया गया है, वहीं दूसरी ओर मालती का विवाह किसी अन्य पुरुष से हो जाता है। तोम्बा के प्रेम एवं सौंदर्य-दृष्टि से संबंधित विचार कहानी में द्रष्टव्य हैं " मैंने कोई उत्तर नहीं दिया था, क्योंकि उसके पीछे दौड़ना! मुझे तो डर इस बात का था कि अपनी प्यास बुझाने के लिए जी भर कर पी लिया तो कहीं प्यास ही न बुझ जाए हमेशा के लिए। मेरे लिए तो वह प्यास ही सब कुछ है,

उसी प्यास की पिपासा में तन-मन दोनों को डुबो दूँ, वही मेरी चाहत है।"[3] तोम्बा अपनी प्रेमिका के वियोग को सहन नहीं कर पाता और अतीत की सुंदर स्मृतियों को पुनः जीने की आकांक्षा करता है।

मणिपुरी साहित्य के लब्धप्रतिष्ठ कथाकार शिजगुरुमयुम नीलवीर शास्त्री की कहानी 'इंटरव्यू' का महत्व असंदिग्ध है। उनके यहाँ राजनैतिक परिवेश का यथार्थ चित्रण तो हुआ ही है, साथ ही सरकारी कार्यालयों में व्याप्त भ्रष्टाचार के निरंतर विस्तार को भी उजागर किया गया है। कार्यालयों में नियुक्तियों के संदर्भ में व्याप्त भ्रष्टाचार की प्रक्रिया को वे अत्यंत प्रभावशाली ढंग से सामने लाते हैं। यहाँ आर्थिक, शारीरिक, मानसिक सभी रूपों में भ्रष्टचार होता है। कहानी की पंक्तियाँ देखने योग्य हैं "बात क्या है, वह तुरंत समझ गई। कोई जवाब न देकर उसने बैग में से नोटों का बंडल निकालकर टेबल पर रखा। फिर बोली, "सर यह बीस है, थोड़े और की व्यवस्था करती हूँ।" नहीं-नहीं लक्ष्मी! अपने रुपये ले जाओ।" ऐसा कहते हुए नोटों के बंडल लक्ष्मी के हाथ में रखने की कोशिश करने लगा। लक्ष्मी की फूल सी उँगलियों को छूते ही सारे तन में बिजली का एक झटका लगा। आज मौका पाकर सेक्रेटरी का मन-मयूर नाचने लगा।"[4] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भ्रष्टाचार के कारण समाज नैतिकता से कितना दूर चला गया है। उसी प्रकार 'डलिया की बोआरी मछली' कहानी कार्यालय के दो ऐसे कर्मचारियों की मनोवृत्ति को दर्शाती है, जो लोगों द्वारा किसी कार्य की पूर्ति करवाने हेतु भेंट स्वरुप दी गई मछली को सहर्ष स्वीकार कर लेते हैं। वहीं दूसरा ईमानदार क्लर्क पड़ोसी के घर पहुँची मछली को देखकर ललचाता है तथा भ्रष्टाचार के मार्ग पर अग्रसर होने का निर्णय करता है। कहानी की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं "आज के ज़माने में कोई भी सच्चा और ईमानदार नहीं होता, चाओबा इस बात से अनजान नहीं है, वह सब कुछ जानता है। फिर भी अपने घर में भेंट-पूजा की सामग्री चढ़ावे के रूप में आने का रास्ता वह नहीं खोज पाता। चाओबा हेड-कलर्क की समझ में आ गया कि यह रास्ता भी उतनी आसानी से सुलभ नहीं होता।"[5] अतः स्पष्ट है कि भ्रष्टाचार मात्र से ही सुखमय जीवन की कामना की जाने लगी है। एलाङबम सोनामणि की 'सामने का द्वार बंद हो तो पिछवाड़े के द्वार से आना' शीर्षक कहानी का निहितार्थ ही यह है कि सीधे मार्ग को त्याग कर पिछले मार्ग का सहारा लेने की प्रवृत्ति पर बल दिया गया है। कहानी राजतंत्र के विविध पक्षों को प्रभावशाली रूप में अभिव्यक्त करती है।

कहानीकार महाराजकुमारी विनोदिनी देवी की 'चट्टानों पर चंद्रमुखी' कहानी बिखरे दांपत्य जीवन का संवेदनशील लेखा-जोखा प्रस्तुत करती है। कहानी हमारे समक्ष दो प्रकार के गृहस्थ जीवन की ओर संकेत करती है-एक ओर डॉक्टर पति-पत्नी है, जो शांतिपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं, वही दूसरी ओर एक गरीब पति-पत्नी हैं जो अब साथ नहीं रहते, पत्नी बेटी को लेकर मायके में रहती है। ध्यातव्य है कि बेमेल विवाह का दुष्परिणाम अंततः सबको भुगतना पड़ता है। अपनी संतान से बिछड़ने की पीड़ा किस प्रकार एक पिता को व्यथित कर देती है इसका मार्मिक चित्रण कहानी में हुआ है। कहानी की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं

"थोड़ी देर तक बाप-बेटी की आँखे चार होती रहीं। फिर पिता ने बेटी को अपनी गोद में उठाया और "मेरी मुन्नी" कहकर बार-बार उसका चुम्बन लेने लगा। बच्ची भी बहुत दिनों के बाद मिले बाप की चौड़ी छाती में मुँह छिपाए रही। कुछ क्षणों तक बाप-बेटी एक-दूसरे में डूबे रहे।"[6] लंबे अंतराल के पश्चात मुन्नी और उसके पिता का यह मिलन अत्यंत करुणामय दृश्य उपस्थित करता है। संबंधों में दरार, पारिवारिक कलह, बेमेल विवाह, गृहस्थ जीवन में एकाकीपन आदि विशेषताएं वीरेंद्रजीत नाओरेम की 'प्रतिद्वंदी', सिजगुरुमयुम नीलवीर शास्त्री की 'टूटा हुआ जीवन बंधन' जैसी कहानियाँ बखूबी अभिव्यक्त करती हैं।

बेरोजगारी, बाजारवाद, विज्ञापन संस्कृति जैसी समस्याएँ युमलेम्बम इबोम्चा की 'नया जूता' कहानी में उजागर होती हैं। आधुनिकता की ओट में पाश्चात्य संस्कृति का अनुकरण करने वाले व्यक्तियों की मानसिकता को यह कहानी प्रदर्शित करती है। आज का व्यक्ति किसी वस्तु को सुविधा पूर्ति के लिए नहीं बल्कि मात्र सौंदर्यबोध एवं व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिए खरीदता है। खुमनथेम प्रकाश की 'होली का ताप' कहानी भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। कहानी इबोहल और थम्बाल जैसे स्थानीय मेहनतकश व्यापारियों का चित्र प्रस्तुत करती है जो रबर की सैंडिल बनाकर बेचते हैं, किंतु उनका यह व्यवसाय अधिक दिन तक नहीं चल पाता। आर्थिक संकट से जूझते हुए इबोहल का संपूर्ण परिवार दिन-रात परिश्रमरत रहता है। कहानी की पंक्तियाँ देखने योग्य हैं "इबोहल रात भर जग कर पुराने टायर फाड़ता रहता है और दिन भर उनसे सेंडिल तैयार करता रहता है। थम्बाल भी पल भर के लिए विश्राम करने नहीं बैठती। बच्चों की चिल्ल-पों, हठ आदि की भूल-भूलैया में पड़ने के कारण धूल-धूसरित शरीर और रबड़ जलाने के धुएँ के रंग से काले पड़े मुँह तक को धो डालने का ध्यान किए बिना बेचारी सैंडिल के फीते तैयार करने में लगी रहती है।"[7] कहा जा सकता है कि दोनों पति-पत्नी एक ओर ऋण चुकाने के लिए विवश हैं वहीँ दूसरी ओर होली जैसे त्योहार की प्रतीक्षा उन्हें उत्सुकता नहीं असमंजस से भर देती है।

स्त्री चेतना मणिपुरी कहानियों की एक प्रमुख विशेषता है। यहाँ स्त्रियाँ असहाय या शोषित मात्र नहीं हैं बल्कि वे आगे बढ़कर दृढ़ता के साथ प्रत्येक परिस्थिति का साहसपूर्ण सामना करती हैं। प्रख्यात कहानीकार इबोहल सिंह काङजम की कहानी 'परिस्थितियों के हाथों' में स्त्री की विडंबनाओं का, विधवा स्त्री को समाज में तिरस्कृत दृष्टि से देखना, पुरुषों की घृणा और उपेक्षा का शिकार बनने आदि का यथार्थ चित्रण हुआ है। कहानी के अंत में कहानी की नायिका वेश्यवृत्ति में प्रवेश करना ही अपना अंतिम विकल्प मानती है। कहानी की पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं "आज के अपने बदले हुए जीवन को देखकर, मुझे खुद भी आश्चर्य होता है। पुरुष सोचते हैं, वे मुझसे कठपुतली की तरह खेल रहे हैं। मैं कहती हूँ-मैं उन सब को अपनी ऊँगलियों पर नचाकर खेल रही हूँ। लेकिन मेरे मन की यह बात चाहे ठीक भी हो, तब भी मुझे आज का अपना यह जीवन पसंद नहीं है।"[8] रजनीकांत एलाङबम की 'चंद्रमा का शांत मुखड़ा' कहानी में स्त्री जीवन की व्यथा-कथा विन्यस्त है। सगोलशेम लनचेनबा मीतै की 'टूटा था या तोड़ा था' कहानी में कलाकार के महत्व को रेखांकित किया

गया है। वहीँ कहानीकार कमल तोइजम्बा पहाड़ी जन-जीवन का चित्रण करते हुए पर्वतीय अंचलों में सरकारी योजना की विफलताओं की ओर हमारा ध्यान खींचते हैं। इन कहानियों में साधारण किसान का जीवन, गाँव की सादगी एवं सहजता का सजीव वर्णन हुआ है।

मणिपुरी कहानियों की विकास यात्रा से गुजरते हुए यह कहा जा सकता है कि ये कहानियाँ मणिपुरी समाज के चित्र को सफलतापूर्वक प्रकाशित करती हैं। मणिपुरी कहानियों को पढ़ने के बाद यह तथ्य भी सामने आता है कि मणिपुरी समाज में प्रगति और आधुनिकता का आगमन एकाएक न होकर धीमी गति से हुआ। विभिन्न कहानीकारों ने अपने समय के परिवेश और परिस्थितियों को अपनी कहानियों में जीवंत रूप में चित्रित किया। यह भी लक्षित किया जा सकता है कि बीसवीं सदी के आठवें और नवें दशक में मणिपुरी समाज उग्रवाद, भ्रष्टाचार और बेरोजगारी से संत्रस्त रहा है। बीसवीं सदी के अंतिम दो दशकों में स्थितियाँ काफी बदलीं और समाज में जागरूकता तथा नवीन चेतना का संचार हुआ। इक्कीसवीं सदी के आरंभिक दो दशकों में मणिपुरी समाज में पाश्चात्य संस्कृति का प्रभाव देखा जा सकता है। इक्कीसवीं सदी के कहानीकारों ने मणिपुरी समाज में व्याप्त विज्ञापनवादी संस्कृति और बाजार के प्रभाव को अपनी कहानियों में सुंदर ढंग से चित्रित किया है। मणिपुरी भाषा की अनेक कहानियाँ इस समाज में निहित प्रतिरोध और संघर्ष की चेतना को सुंदर ढंग से उजागर करती हैं। मणिपुर के कहानीकारों ने बदल रहे समाज की आहटों को पहचाना और उसे अपनी कहानियों में स्वर प्रदान किया।

## संदर्भ ग्रंथ


1. रमणिका गुप्ता (सं.), पूर्वोत्तर की आदिवासी कहानियाँ, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, पहला संस्करण 2009 ई., पृष्ठ – 82
2. कमलेश्वर (सं.), भारतीय शिखर कथा कोश मणिपुरी कहानियाँ, पुस्तकायन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1997 ई., पृष्ठ 53
3. हाओबम आनन्दी देवी (अनुवाद), सपने का गीत, आशिष प्रकाशन, इंफाल, प्रथम संस्करण 1997 ई., पृष्ठ 2
4. एलाङबम विजयलक्ष्मी (अनुवाद), धरती, परिलेख प्रकाशन, नजीबाबाद, प्रथम संस्करण 2008ई., पृष्ठ 61
5. हाओबम आनन्दी देवी (अनुवाद), सपने का गीत, आशिष प्रकाशन, इंफाल, प्रथम संस्करण 1997 ई., पृष्ठ 7
6. कमलेश्वर, भारतीय शिखर कथा कोश मणिपुरी कहानियाँ, पुस्तकायन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1997 ई., पृष्ठ 117
7. हाओबम आनन्दी देवी (अनुवाद), सपने का गीत, आशिष प्रकाशन, इंफाल, प्रथम संस्करण 1997 ई., पृष्ठ 53
8. कमलेश्वर, भारतीय शिखर कथा कोश मणिपुरी कहानियाँ, पुस्तकायन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1997 ई., पृष्ठ 23

# पूर्वोत्तर भारत के राज्यों का इतिहास एवं वर्तमान

## असम, मेघालय और अरुणाचल प्रदेश राज्य के विशेष संदर्भ में

**राजेंद्र कुमार राम**

जब हम कभी भारत की दिशाओं की बातें करते हैं तो सर्वप्रथम पूर्व दिशा से बातें आरंभ करते हैं इसके बाद अन्य दिशाओं का नाम लिया जाता है। प्राचीन काल से ही भारत का पूर्व देश आकर्षण का मुख्य केन्द्र रहा है। महाभारत काल से लेकर पुराणों तक पूर्व देश की चर्चा की गई है। भारत का यह पूर्व देश मुख्यतः उस जमाने में कामरूप के नाम से विख्यात था जिसकी राजधानी प्रागज्योतिषपुर मानी जाती थी। जिसका उल्लेख महाभारत काल में भी हुआ है। श्रीकृष्ण-रूक्मणी, उषा-अनिरूद्ध, भीम-हिडिम्बा, अर्जुन-चित्रांगदा, दुर्योधन-भानुमति जैसी वैवाहिक संबंध की घटनाएँ हो या नरकासुर-श्रीकृष्ण और वाणासुर-श्रीकृष्ण का युद्ध तथा कामरूप के राजा भगदत्त का महाभारत युद्ध में भाग लेना जैसी घटनाएं सभी पूर्वोत्तर से ही जुड़ी हैं। यह सभी घटनाएँ पूर्वोत्तर के साथ शेष भारत के संबंध की पुष्टि करते हैं। यह क्षेत्र कभी जादू-टोने की नगरी के रूप में प्रसिद्ध रहा जहां देवी कामाक्षा (कामाख्या) का निवास स्थान है। आजकल भी जब कामाख्या मंदिर में 'अंबुवासी मेला' का आयोजन होता है तो कई दिनों तक मंदिर का प्रवेश द्वार बंद रहता है। माना जाता है कि उस समय देवी के गर्भ गृह का स्थान रजस्वला हो जाता है जो पूजा करने योग्य नहीं रहता और इस अवधि में पूजा कर्म को अशुभ माना जाता है। उसकी शुद्धि उपरांत ही फिर से पूजा कर्म आरंभ होता है। उस समय कामाख्या मंदिर के साथ-साथ असम के प्रत्येक मंदिरो एवं देवालयों में पूजापाठ वर्जित होता है। प्रत्येक वर्ष अंबुवासी मेले के दौरान देश-विदेश के हजारों श्रद्धालु एवं संत-महात्मा यहाँ आते हैं। साधु-संत यहाँ आकर ध्यान में लीन हो जाते है तो कुछ अपने तंत्रमंत्र की सिद्धि करते हैं। यह मेला लगभग एक सप्ताह तक चलता है। कामरूप के इस कामाख्यापीठ में 'क्वांरी पूजा' का भी प्रचलन है। छोटी बच्चियों के पैर धोकर उनकी पूजा अर्चना करना और उनका आशीर्वाद प्राप्त करना क्वारी पूजा का विधान है। छोटी बच्चियों को यहाँ माँ अथवा माता कह कर संबोधित किया जाता है ऐसा प्रचलन भारत के अन्य प्रांतो में शायद ही कहीं दिखता हो।

भारत में कुछ लोग जिन्हे पूर्वोत्तर क्षेत्र में आने का कभी अवसर प्राप्त नहीं हुआ ऐसी लोगो की धारणा है कि पूर्वोत्तर घने जंगलों का क्षेत्र है जहाँ जंगली जीव-जंतु बड़ी संख्या

में पाये जाते हैं और यहाँ के निवासियों को जंगली कह कर पुकारते हैं जो उनकी अज्ञानता का परिचायक है। भारत का पूर्वोत्तर क्षेत्र आज भी धार्मिक दृष्टि से शेष भारत में प्रसिद्ध है। यह स्थान शक्तीपीठ माँ कामाख्या का निवास स्थल है जो गुवाहाटी शहर के नीलाचल पर्वत पर आज भी विराजमान हैं जहाँ प्रतिवर्ष हजारो देशी-विदेशी भक्तगण दर्शन करने आते हैं। इसके अलावा वशिष्ठ मुनि का आश्रम, परशुराम कुण्ड, त्रिपुरेश्वरी मंदीर, गोविन्दजी मंदीर, माधव-हयग्रीव मंदीर, उमानंद, शिवदौल, जयदौल जैसे ऐतिहासिक मंदिर भी इसी क्षेत्र में है। असम के हाजो में स्थित मुसलमानों का पवित्र स्थान 'पोवामक्का' है जो मूलरूप में पीर गियासुद्दीन औलिया की दरगाह है जिसे सत्रहवीं शताव्दी में बनवाते समय सुजाउद्दीन मुहम्मद शाह जो मुगल सम्राट शाहजहाँ के समकालीन थे ने अरब में बसे पवीत्र मक्का से एक मुट्ठी मिट्टी मंगवा कर इस दरगाह में मिलाया था। ऐसी धारणा है कि यहाँ प्रार्थना करने से असली मक्का की प्रार्थना का चौथाई पुण्य लाभ की प्राप्ति होती है। इसलिए इसे पूर्वोत्तर का दूसरा मक्का भी कहा गया है। पूर्वोत्तर क्षेत्र हिमालय के पूर्वी पहाड़ों पर बसा हुआ सुंदर और रमणीय अंचल है जो जलवायु की दृष्टि से बड़ा ही आनन्ददायी है। यहाँ का मौसम भारत के अन्य स्थानों की अपेक्षा समशितोष्ण है, यह अंचल अत्यधिक वर्षा के लिए पूरे भारत तथा विश्व में प्रसिद्ध है। प्राकृतिक दृष्टि से भी यह क्षेत्र बहुत धनी है जहाँ ऊँचे-ऊँचे सदाबहार पेंड़, ऊँची-नीची घाटियाँ, बहते हुए झरने, छोटी-बड़ी नदियाँ जिसमे सालो भर पानी भरा रहता है। इन नदियों में विभिन्न प्रकार की मछलियाँ मिलती हैं जो यहाँ के निवासियों का मुख्य आहार है साथ-साथ व्यवसाय का भी मुख्य स्रोत है। यहाँ चाय के साथ-साथ सुपारी और नारीयल की खेती भी प्रचुर मात्रा में की जाती है। यहाँ के जंगलो में धूप, चंदन, गमारी, शाल और सागौन जैसे मूल्यवान पेंड़ और दुर्लभ जड़ी-बूटियाँ पायी जाती हैं। यहाँ बाँस, बेंत, चूना पत्थर, कोयला और खनीज तेल भी प्रचुर मात्र में पाए जाते हैं।

भारत के उत्तर-पूर्व में बसा हुआ यह पूर्वोत्तर क्षेत्र अपनी ऐतिहासिक, भौगोलिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और भाषायी विविधता के कारण पूरे भारत में जाना जाता है। पूर्वोत्तर क्षेत्र में कुल सात राज्य हैं जिसमें असम, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश, मणिपुर, नागालैण्ड, मिजोरम और त्रिपुरा राज्य आते हैं जिन्हें एक साथ (Seven Sisters) सात बहनों का राज्य कहा जाता है। चुकिं सिक्किम राज्य भी पूर्वोत्तर क्षेत्र में आता है इसलिए उसकी गणना भी अब पूर्वोत्तर के राज्यों में किया जाने लगा है। कुल मिलाकर पूर्वोत्तर में कुल आठ राज्य बसे हैं जिसमें सिक्किम पूर्वोत्तर का एकलौता भाई राज्य है। भाषाई विविधता भारत की प्रमुख विशेषता है जिसमें पूर्वोत्तर क्षेत्र भी पीछे नहीं है, यहाँ कुल आठ राज्यों में लगभग 150 प्रकार की विभिन्न भाषाएं एवं बोलियों का प्रचलन हैं। इसमें असमिया, बड़ो, बंगला, खासी, गारो, निशि, आदि, मोनपा, मिजो, मणिपुरी, नागामिस, नेपाली, लेप्चा, भूटिया और अंग्रेजी इत्यादि प्रमुख हैं। हिंदी संपर्क भाषा के रूप में इन क्षेत्रों में प्रयोग की जाती है। इन आठों राज्यों के आर्थिक और सामाजिक उन्नति के लिए वर्ष 1971 में पूर्वोत्तर परिषद (North East Council) नामक एक केन्द्रीय संस्था का

गठन किया गया। जिसका मुख्यालय मेघालय राज्य के शिलांग शहर में स्थित है। इसके उपरांत 9 अगस्त, 1995 को नार्थ-ईस्टर्न डेवलपमेंट फाइनेंस कार्पोरेशन का गठन किया गया। पूर्वोत्तर क्षेत्र के विकास को ध्यान में रखकर तथा भारत के अन्य राज्यों के साथ पूर्वोत्तर को एक धारा में लाने के उद्देश्य से भारत सरकार ने वर्ष 2001 में उत्तर-पूर्वी क्षेत्र विकास मंत्रालय का गठन किया।

## असम

असम के इतिहास में असम का प्राचीन नाम कामरूप बताया जाता है जिसकी राजधानी प्रागज्योतिषपुर थी। महाभारत काल में नरकासुर नाम के राजा का उल्लेख हुआ है। नरकासुर ने महिरंग दानव राजवंश के संस्थापक को हराकर नरक साम्राज्यवाद स्थापित किया था जिसे श्रीकृष्ण ने युद्ध में परास्त किया। कालिका पुराण के अनुसार नरकासुर शक्ती का उपासक था। वह देवी कामाख्या का परम भक्त था। उसकी भक्ति से संतुष्ट होकर एक दिन देवी ने उसे दर्शन दिया और वरदान मांगने के लिये कहा। नरकासुर देवी का सौन्दर्य देखकर मुग्ध हो गया और वरदान के रूप में उनसे विवाह करने का प्रस्ताव रखा। देवी अपने वरदान की रक्षा के लिए उसके सामने विवाह की एक शर्त रखी और कहा कि यदि एक रात के अंदर हमारे लिए एक मंदिर तथा एक पोखर का निर्माण हो जाए और मंदिर में चारो दिशाओं से पहुँचने के लिए मार्ग बन जाए तो मैं विवाह के लिए तैयार हूँ। नरकासुर यह शर्त स्वीकार कर अपने श्रमीकों को काम में लगा दिया। शर्त पूरी होते देख देवी को चिंता हुई और उसने छल से एक मुर्गे को सबेरा होने पूर्व ही बांग लगाने के लिए भेज दिया। मुर्गे की बांग सुनकर देवी ने नरकासुर से अपनी हार स्वीकार करने के लिए कहा। अपनी हार मानकर नरकासुर ने बीच में ही काम बंद कर दिया नरकासुर के बाद उसका पुत्र भगदत राजसिंहासन पर बैठा। भगदत की पुत्री भानुमति का विवाह कौरव पुत्र दुर्योधन से हुआ था। महाभारत के युद्ध में भगदत अपनी किरात सेना के साथ कौरवों की ओर से लड़ा था और वीर अर्जून के हाथों वीरगति को प्राप्त हुआ। कालिदास के 'रधुवंश' में इसे 'नीललोहित' कह कर पुकारा गया है। असम के इतिहास में कोच, कामता, भुँइया, आहोम, चुतिया (सुतिया) और कछारी राजाओं के बारे में वर्णन किया गया है। असम का इतिहास चौथी शताब्दी में पुष्यबर्मन द्वारा स्थापित बर्मन साम्राज्य से आरंभ माना जाता है। सातवीं शताब्दी में कामरूप के राजा कुमार भाष्करबर्मन का शासन काल माना जाता है जो महाराजा हर्षवर्धन के समकालीन थे। जिन्हे शिव का उपासक माना जाता था। तेरहवीं शताब्दी सन् 1228 ई. में आहोम राजा चुकाफा का असम आगमन होता है जिसने असम में आहोम राज्य की नींव रखी। " सोलहवीं शताब्दी में कोच राजवंश का उदय होता है जो महाराजा नर नारायण और उनके छोटे भाई सेनापति शुकल्पध्वज के शासन काल के नाम से प्रसिद्ध है। महाराजा नर नारायण को कामरूप का विक्रमादित्य भी कहा जाता है। सेनापति शुकल्पध्वज चील पक्षी की भांति शत्रुओं पर आक्रमण करते थे इसलिए असम के इतिहास में उन्हे वीर चिलाराय के नाम से प्रसिद्धि

मिली है। नर नारायण शिव और दुर्गा के उपासक थे। उन्होने कामाख्या मंदिर का भी जीर्णोद्धार करवाया। भक्ति आन्दोलन के समय असम में महापुरुष श्रीमंत शंकरदेव का आविर्भाव हुआ था और उन्होने वैष्णव धर्म अपनाकर 'एक शरणिया धर्म' चलाया। नर नारायण ने अपने शासन काल में वैष्णव धर्म को भी मान्यता दी। वीर चिलाराय के अनुरोध पर राम सरस्वती ने महाभारत के श्लोगो का असमिया अनुवाद किया था।"1 असम सरकार वीर चिलाराय की वीरता को सम्मान देते हुए 'चिलाराय दिवस' के रुप में आज उसका पालन करती है।

असम नामाकरण को लेकर कई तर्क दिए जाते हैं जिसमें आहोम राजाओं का इस क्षेत्र में वर्षों तक शासन करना प्रमुख कारण है। इसके अलावा यहाँ की भूमि असमतल अथवा ऊबड़-खाबड़ है जिसके कारण इसे 'अ' 'सम' अर्थात असम नाम दिया गया। शंकर भट्ट भारत दर्शन में लिखते हैं कि– "प्राचीन काल में कामरूप को प्रागज्योतिषपुर के नाम से भी पुकार जाता था। नरकासुर और शिशुपाल इसी प्रदेश के थे। रामचन्द्र जी के प्रपितामह रघु ने दिग्विजय में प्रागज्योतिषपुर के राजा को पराजित किया था। त्रिनेत्रधारी शिव ने कामदेव को भस्मीभूत किया और फिर पुनर्जीवित किया। वह घटना असम की ही बताई जाती है। इससे आगे लेखक कहते हैं कि प्राचीन ग्रंथो और महाभारत में किरातों का जो उल्लेख मिलता है वह आर्यवर्त के उत्तर-पूर्व और पूर्वोत्तर सीमांत की जातियों से सम्बद्ध है जो बाद में हिन्दुओं के विशाल समुदाय में समाविष्ट हो गई। अन्य लोग पर्वतों में जा बसे और अपने मूल आचार-विचारों पर चलते रहे। कालांतर में असम के पर्वतीय क्षेत्रों में बसे आदिम जाति के लोगों और ब्रह्मपुत्र नदीं के तटों पर मैदानों में हिन्दुओं के बीच आदान-प्रदान जारी हो गया और आदि संस्कृति और आर्य संस्कृति का मेल बढता रहा। इसमें सांस्कृतिक और धार्मिक जातीय और सामाजिक सम्मिश्रण हुआ है। इस प्रकार असम में अनेक जातियों, भाषा-भाषियों का संगम हुआ। यहाँ अनेक प्रकार की बोलियाँ बोली जाती हैं। सबके रीति-रिवाज, धर्म, आचरण सब अलग प्रकार के हैं। यहाँ नाना धर्मों एवं मान्यताओं का अद्भुत संगम देखने को मिलता है। इस तरह असम विभिन्न जातियों की जीवन-पद्धति का संगम स्थान रहा है"'[2]

असम में इसे 'लुइत' के नाम से भी जाना जाता है। असम के अधिकतर शहर इस ब्रह्मपुत्र नद के किनारे स्थित है। ब्रह्मपुत्र नदी का बखान करते हुए सांवरमल सांगानेरिया लिखते हैं – ''ब्रह्मपुत्र के किनारों पर बसंत का आगमन बिहू गीतों के साथ होता है। यहाँ पर बसी बोड़ों, कछारी, मिकिर, राभा, खासी, जयंतिया आदि जनजातियाँ अपनी-अपनी रंग-बिरंगी पोशाकों, अपनी मान्यताओं अपने रीति-रिवाजों, अपनी भाषाओं, आस्थाओं और लोकतथ्यों से इसकी घाटी को अनुगुंजित करते हैं।.....ब्रह्मपुत्र असम के लिए वरदान है। वहीं कुपित होकर जब यह अपना विकट रूप धारण करता है तो असमवासियों का यह बहुत कुछ हरण कर लेता है। इसके क्रोधित स्वभाव के कारण ही इसके किनारों को जोड़ने के ब्रिटिस सरकार के सारे प्रयास विफल हो गए। वहीं स्वतंत्रता के पश्चात इस पर तीन पुलों का निर्माण किया गया और चौथा पुल निर्माणाधिन है।"[3]

## मेघालय

मेघालय पूर्वोत्तर का एक अन्य प्रमुख राज्य है जो असम से काफी सटा हुआ है। इसका कुल क्षेत्रफल लगभग 25 हजार वर्ग किलोमीटर है जो मूलतः खासी, जयंतिया और गारो जनजातियों का मूल निवास स्थान है। इसके अलावा पूर्वोत्तर की कुछ अन्य जनजातियों जैसे राभा, कुकी भी यहाँ मिल जाते हैं। मेघालय मुलतः खासी, जयंतिया और गारो पहाड़ियों से निर्मित राज्य है जो यहाँ की तीन प्रमुख जनजातियों के नाम पर आधारित है। मेघालय की उत्पत्ति को लेकर यहाँ की जनजातियों तथा उनके वंश के आगमन की एक प्रसिद्ध दंतकथा है लोककथा एवं लोकमान्यताओं का इस राज्य में प्रमुख स्थान है। मेघालय के निवासियों की उत्पत्ति, उनके वंशजों एवं उनकी धार्मिक मान्यताओं को लोककथा के अनुसार स्पष्ट करते हुए विष्णु प्रभाकर ने लिखा है–"एक कथा के अनुसार यहाँ के निवासी शिलांद देव के वंशज हैं। उनका अज्ञान दूर करने के लिए एक बार उन्होने अपनी पुत्री को भेजा, उसका नाम था पाह शिन्दु। वह बहुत ही सुन्दर और सुशील थी। वही खासियों की रानी बनी और उसकी संतान को खासियों ने अपना मुखिया बनाया। खासी भाषा में मुखिया को सियेम कहते हैं। शिलांग में पहला राज्य इन सियेमों ने ही स्थापित किया था। इन राज्यों का एक पूरा इतिहास है लेकिन अंग्रेजों के आने के बाद ये सब समाप्त हो गए। खासी और जयंतिया दोनो को जीत कर अंग्रेजो ने संयुक्त खासी और जयंतिया प्रदेश का निर्माण किया है। भारत के स्वतंत्र हो जाने के बाद भी यह संघर्ष चलता रहा। अंत में मेघालय की स्थापना के बाद ही यह समाप्त हुआ।"[4] अत्यधिक वर्षावाले क्षेत्र के रूप में मेघालय स्थित मौसिनरम का नाम सर्वप्रथम आता है, कभी यह ख्याति चेरापूँजी के नाम अंकित था। यहाँ औसतन वार्षिक रूप में 1200 से. मी. वर्षा होती है जिसके फलस्वरूप यहाँ बड़े-बड़े जलप्रपात, सदाबहार पाइन के पेड़, बांस इत्यादि अधिक मात्रा में पाए जाते हैं।

मेघालय की जलवायु शीतोष्ण तथा आर्द्र है जहाँ वर्ष का अत्यधिक महीना ठंड रहता है। मेघालय के सौंदर्य का वर्णन करते हुए मेघालय के भुतपूर्व राज्यपाल श्री मधुकर दिघे ने 'पूर्वांचल की ओर' पुस्तक में यह लिखा है कि "मेघालय-मेघों का आलय (Abode of Clouds) नैसर्गिक सौंदर्य से एक भरपूर एक रमणीय स्थान है और इसीलिए इसको भारत का 'स्कॉटलैण्ड' कहा जाता है। पहाड़ियों, घाटियों और जंगलो में रहनेवाले ये लोग आपकी भाषा भले ही न जानते हों, परंतु बुद्धि और ज्ञान में मैदानी इलाकों में रहनेवाले लोगों से ये निम्न स्तर के नहीं हैं, यह मैं दावे के साथ कह सकता हूँ। ऊँचे-ऊँचे पहाड़, मधुर स्वरों का संगीत बिखेरती नदियाँ, बड़े-बड़े झरने, सुरम्य घाटियाँ, केले, अन्नास, संतरे, काजू कॉफी के झुरमुटों से लकर रबड़, सुपारी और सौ-सौ फीट ऊँचे पाइन वृक्ष अनेक प्रकार के वन्य-पशु मेघालय राज्य में हैं। चूना और कोयला ही नहीं, बल्कि अनेक प्रकार के खनिज पदार्थ यहाँ बहुतायत में पाए जाते हैं। हीरा तराशनेवाले और लोहे से भी अधिक मजबूत सीलमनाइट के पहाड़, जो दुनिया में कदाचित् ही कहीं पाए जाते हैं, मेघालय में ही मौजूद है। यूरेनियम जैसी अमूल्य धातु तथा अनेक

प्रकार की जड़ी-बूटियों की अनगिनत किस्में यहाँ मौजूद हैं।"[5]

आजादी के बाद भी मेघालय असम के ही अंतर्गत था और शिलांग असम की राजधानी हुआ करती थी। बाद में आपसी अंतरविरोधों और भाषायी भिन्नता के कारण यहाँ की आदिवासियों में एक स्वतंत्र राज्य की मांग उठने लगी। उन्होने कई वर्षों तक अपनी मांग के लिए संघर्ष किया, आन्दोलन किया और अंत में उनकी विजय हुई। भारत सरकार ने उनकी मांग को लेकर आवश्यक कदम उठाए और संसद में एक बिल पारित कर मेघालय को एक स्वतंत्र राज्य के रूप में मान्यता दी। उन्हे गणतांत्रिक रुप में अपनी इच्छानुसार एक सरकार चुनने और गठन करने का अधिकार प्राप्त हुआ। "सन् 1960 से लेकर 1969 के अंत तक ऑल पार्टी हिल्स लीडर कंफ्रेंस की लगातार हिल्स स्टेट की माँग को लेकर शांतिमय संघर्ष करती रही... खासी, गारो, जयंतिया, कछार तथा मिकिर हिल्स के लोगों की लड़ाई गाँधीजी के बताए हुए अहिंसक रास्ते पर चलती रही और अंत में 15 दिसंबर, 1969 को मेघालय-ऑटोनोमस-स्टेट बिल नामक विधेयक संसद में लाया गया, जिसके द्वारा 2 अप्रैल, 1970 को मेघालय की एक स्वतंत्र इकाई बनाने का उनका सपना कुछ हद तक साकार हुआ।"[6]

शिलांग मेघालय की राजधानी के साथ-साथ पूर्वोत्तर का एक बहुचर्चित पर्यटन स्थल है जो गुवाहाटी से लगभग 100 किलोमीटर दूर ईस्ट खासी हिल्स नामक पहाड़ी पर स्थित है। यह शहर अपनी प्राकृतिक सुषमा के लिए पूरे पूर्वोत्तर में प्रसिद्ध है। प्रकृति और मनुष्य का आदिम साहचर्य का एहसास वस्तुतः शिलांग दर्शन से होता है। शिलांग अपनी प्राकृतिक सुन्दरता के लिए प्राचीन काल से ही लोगो को अपनी ओर आकर्षित करता रहा है। शिलांग समुद्र-तल से लगभग साढे छह हजार की फीट की ऊँचाई पर बसा हुआ एक हिल स्टेशन है। यहाँ प्रकृति के सौन्दर्य को भलीभांति महशूस किया जा सकता है। ऊँचे-नीचे पहाड़ियों पर बने घुमावदार साँप जैसे टेढे-मेड़े रास्ते देखते ही बनता है जो मन में रोमांच पैदा कर देते हैं। दूर-दूर तक फैली घाटियाँ और उसके ऊपर फैले बादलों का तैरना मन को बड़ा ही आकर्षित करते हैं। पहाड़ों की ढलान पर उगे गलबहियाँ करते चीड़ के ऊँचे-ऊँचे वृक्ष और उनके मध्य से बहते हुए शीतल हवाओं का झोंका, पत्थरों की ढलानों से गीरते हुए झरनों की संगीतमयी ध्वनि, जल की स्वच्छ जलधारा से किलकारी मारती हुई कलकल बहती पहाड़ी नदियाँ, आसपास की बादियों में विभिन्न प्रकार के रंगों से सजे धजे फूलों और उन पर मंडकाती रंग-बिरंगी तितलियौँ से भरा हुआ यह प्रदेश प्राकृतिक हरियाली का एक अनूठा उदाहरण है।

मेघालय राज्य में कुल 11 जिले हैं। जिसमें 29 विधान मंडल के तथा 2 संसद के सदस्य हैं। सन् 2016 के आंकड़ो के अनुसार यहाँ की कुल आबादी लगभग 32.12 लाख है जिसका कुल क्षेत्रफल 22,429 प्रति वर्गमील तथा जनसंख्या का घनत्व 132 प्रतिवर्ग किलोमीटर है। मेघालय का साक्षरता दर 75.48 प्रतिशत तथा लिंग दर हजार पुरूषों पर 986 महिलाएं हैं। मेघालय में शिलांग के साथ-साथ सोहरा (चेरापूँजी), मौहसिनरम,

डाँऊकी, उमरोई (बड़ापानी) झील, नोहकलिकाई वाटरफाल्स, उमक्रेंम, बेरिहर, सेकरेट ग्रुम फॉरेस्ट, शिलांग पीक, वाड्र्स लैक, पोलो ग्राउंड, लेडी हैदरी पार्क, एलिफैंटा फाल्स, क्रम मॉम्लुह गुफा, माव्समाई फाल्स, पुलिस बाजार इत्यादि प्रमुख पर्यटन स्थल हैं। मेघालय का मुख्य पड़ोसी राज्य असम है। असम का गुवाहाटी शहर मेघालय का नजदिकी प्रमुख संपर्क स्थल है। जहाँ से सीधी रेल और हवाई सेवाओं का उपयोग मेघालय राज्य द्वारा भी किया जाता है। मेघालय को देश के अन्य राज्य से जोड़ने के लिए सड़क मार्ग, रेल मार्ग और हवाई मार्ग उपलब्ध हैं। असम के गुवालपाड़ा जिले से होकर मेघालय के तुरा शहर जाने का प्रमुख राजमार्ग 37 है। असम के बुंगाइगाँव जंक्सन से जुड़ा गारो हिल्स जिले में मेंदीपथार नामक रेल स्टेशन है जो रेलमार्ग से मेघालय को जोड़ता है। गुवाहाटी से शिलांग आने-जाने का प्रमुख सड़क मार्ग जिसे जी. एस. रोड के नाम से प्रख्यात है जो आजकल फोरलेन का एक राष्ट्रीय राजमार्ग है। शिलांग स्थित उमियम यहाँ का प्रमुख हवाईअड्डा है जहाँ से कोलकाता के लिए सीधी उड़ान सेवाएँ उपलब्ध है। इसके अलावा गारो हिल्स में भी एक बॉलजेक नामक एक छोटा सा हवाईअड्डा है।

## अरुणाचल प्रदेश

अरुणाचल प्रदेश पूर्वोत्तर भारत का एक राज्य है जो भारत के पूर्वी सीमांत क्षेत्र पर स्थित है। यह भी एक पर्वतीय प्रदेश है जो पूर्व में भारत-चीन की सीमा से संपर्क स्थापित करता है। अरुणाचल शब्द का सामान्य अर्थ उगते हुए सूर्य का पर्वत यथा वह स्थान जहाँ से सूर्य का उदय होता है। अर्थात वह स्थान जहाँ से सूर्य आसमान में उदित होकर अपनी प्रथम आभा संसार में बिखेरता है वह प्रदेश ही अरुणाचल है। अरुणाचल प्रदेश भारत का वह राज्य है जो पूर्व में हिमालय की गोद मे बसा हुआ है, जो पर्वत श्रेणियों, गहरी खाइयों, नदी-घाटियों तथा हरियाली से हरा-भरा है। इन पहाडों की ऊँचाईयाँ समुद्र तल से लगभग 4900 मीटर से लेकर 7000 मीटर तक है। कभी इस प्रदेश को अंग्रेजी के NEFA 'नेफा' नार्थ-ईस्ट फ्रांटियर एजेंसी के नाम से जाना जाता था। जिसका सामान्य अर्थ है भारत के उत्तर-पूर्व में बसा राज्य। सन् 1914 में अंग्रेजों और चीन के अधिकारियों के बीच एक सीमा समझौता हुआ था जिसे 'मैकमोहन लाइन' कहा जाता है।

अरुणाचल प्रदेश को प्रकृति का अनुपम उपहार मिला है। प्रकृति ने इस राज्य को वन संपदा, नदियों, झरने जैसी सुन्दरता प्रदान की है। यहाँ के लोगों की संस्कृति साहित्य और कला काफी महत्वपूर्ण है। अपनी इसी विशेषता के कारण यह प्रदेश दूसरे प्रदेशों से अलग हो जाता है। पूरे भारत में अरुणाचल की एक अलग पहचान है। हिमालय की गोद में बसा यह प्रदेश सूर्योदय की उल्लाह के साथ आज धीरे-धीरे प्रगती की राह पर गतिशील है। यह राज्य अपनी जलवायु के साथ-साथ वन संपदा, जल संपदा, खनीज संपदा और वनौषधियों के लिए काफी प्रसिद्ध है। इस राज्य का अधिकतर क्षेत्र समुद्रतट से औसतन 1200 मीटर की ऊँचाई पर स्थित है। यह पहाड़ी राज्य अपनी भाषीक विशेषता और जनजातियों की

बहुलता के लिए जाना जाता है। यहाँ की जनजातियाँ अपनी कला संस्कृतियों और परंपराओं को जिन्दा रखने में अभी भी प्रयासरत हैं। सन् 2011 के आंकड़ो के अनुसार यहाँ की कुल जनसंख्या 13,82,611 है। सन् 1978 में यहाँ विधान सभा पहला चुनाव हुआ जिसमें 30 निर्वाचित हुए तथा 3 सदस्यों को मनोनीत किया गया। अब विधान सभा सदस्यों की कुल संख्या बढकर 60 हो गई है। यहाँ से लोकसभा के लिए 2 तथा राज्यसभा के लिए 1 सदस्य निर्वाचित होते हैं। ईटानगर राज्य की राजधानी सहित शिक्षा का प्रमुख केन्द्र भी है। यहाँ सड़क, रेल और हवाई सेवाएं उपलब्ध हैं। अरुणाचल से असम का नजदिकी शहर लखीमपुर, तिनसुकिया, डिब्रुगढ और मार्घेरिटा है। असम से होकर अरुणाचल तक जाने के लिए कई सड़क सेवाएँ उपलब्ध हैं। ईटानगर तक रेल लाइनों को विस्तृत किया गया है जहाँ से दिल्ली के लिए रेलगाड़ी सेवा उपलब्ध है। यहाँ का नजदिकी हवाईअड्डा लीलाबाड़ी है। यहाँ से दिल्ली, कोलकाता और गुवाहाटी के लिए हवाई सेवाएं उपलब्ध हैं। ईटानगर को भी एयर इंडिया से जोड़ा गया है। यहाँ हेलीकाप्टर सेवाएँ भी उपलब्ध है।

## संदर्भ ग्रंथ


1. History of Koch Kingdom, p.p -516, 615, D. Nath,
2. भारत दर्शन-शंकर भट्ट, पृ. 13-14
3. ब्रह्मपुत्र के किनारे किनारे, सांवरमल सांगानेरिया, पृ. 7-8
4. एक देश एक हृदय, विष्णु प्रभाकर, पृ. 43
5. पूर्वांचल की ओर, मघुकर दिघे, पृ. 12-13
6. वही, पृ. 25-26

# बौद्ध दर्शन एवं शिक्षा का व्यवहारिक स्वरूप

**डॉ. कृष्ण कुमार साह**

भारतीय दर्शन का उदय मूलतः आध्यात्मिक जिज्ञासा से माना जाता है।भारतीय संस्कृति का जन्म जिस विचारधारा से हुआ उसका मूल अध्यात्म है। अध्यात्म का दिग्दर्शन दार्शनिक चिंतन द्वारा ही संभव है। भारतीय दार्शनिक चिंतकों ने स्थूल से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होने वाली भावनाओं को दर्शन नाम दिया है। इन मनीषियों ने अध्यात्म और भौतिकता को समान दृष्टिकोण से देखकर जीवन में समग्रता लाने का प्रयास किया है। भारतीय दर्शन की तीन अप्रमाणिक पूर्व-मान्याताएँ हैं, अर्थात् मोक्ष का सिद्धांत, कर्म का सिद्धांत एवं पुनर्जन्म का सिद्धांत। दर्शन शब्द 'दृश्' (दर्शनार्थ) धातु से निष्पन्न हुआ। इसकी व्युत्पति दो प्रकार से की जाती है-'दृश्यतेऽनेन, इति दर्शनम् (दृश+ल्युअट्), जिसके द्वारा देखा जाय, या तत्वबोध संभव हो, तथा 'दृश्यते इति दर्शनम्' (जिसका तत्त्वबोध या साक्षात्कार हो, जैसे आत्मदर्शन या तत्त्वबोध)।"[1]

देवी प्रसाद चट्टोपाध्याय के अनुसार "दर्शन शब्द 'दृश्' धातु से बना है जिसका सामान्य अर्थ है देखना, इसलिए दर्शन शब्द का मूल अर्थ हुआ साक्षात् अनुभव।[2] दासगुप्त ने दर्शन शब्द का प्रयोग 'यथार्थ तत्त्व विषयक ज्ञान' (True Philosophical Knowledge) अर्थ में किया एवं उनके अनुसार दर्शन शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम कणाद के 'वैशेषिक सूत्र' में हुआ, जो बुद्ध-पूर्व युग की रचना है।"[3]

उमेश मिश्र दर्शन के साक्षात् अनुभव के संबंध में प्रश्न करते हुए कहते हैं "वह सत्य कौन-सा है जिसका साक्षात्कार करने में दर्शन सहायक होता है? एकमात्र सत्य और भारतीय चिंतन का चरम लक्ष्य है-आत्मा का दर्शन अर्थात् साक्षात् अनुभव। सभी दर्शनों का लक्ष्य है अपने-अपने दृष्टिकोण से आत्मा का यथार्थ ज्ञान कराना।"[4]दर्शन का पूर्व नाम तत्व चिंतन था। तत्वचिंतन शब्द का प्रयोग कब से हुआ इसकी कोई निश्चित अवधि ज्ञात नहीं होती। इतना अवश्य कहा जा सकता तत्व चिंतन को दर्शन नाम दिये जाने से पहले भी तत्व चिंतन संबंधी मत संप्रदाय रूप में विद्यमान थे।

भारतीय दार्शनिक संप्रदायों को आस्तिक और नास्तिक दो वर्गों में विभक्त किया गया है। आस्तिक और नास्तिक शब्द का प्रयोग प्रायः ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी के लिए किया जाता है। यहाँ आस्तिक से आशय जो संप्रदाय वेदों के अस्तित्व पर विश्वास

करते हैं और उसके अनुयायी होते हैं। नास्तिक उसे कहा गया जो वेदों को प्रामाणिक नहीं मानते और उसका विरोध करते हैं। इस दृष्टि से आस्तिक के अंतर्गत छः दर्शन आते हैं जिसे 'षडदर्शन' भी कहा जाता है। इसमें – न्याय, वैशेषिक, संख्या, योग, मीमांसा और वेदान्त हैं। ये सभी दर्शन किसी न किसी रूप में वेदों पर आधारित हैं। नास्तिक के अंतर्गत चार्वाक, जैन और बौद्ध ये तीन दर्शन आते हैं। ये तीनों दर्शन वेदों की निंदा करते हैं। यदि भारतीय दर्शन में आस्तिक और नास्तिक शब्द का अर्थ ईश्वर के अस्तित्व मानने वाले एवं ईश्वर के अस्तित्व को ना मानने वाले अर्थ में होता तो संख्या और मीमांसा दर्शन भी नास्तिक वर्ग के अंतर्गत चला आता, क्योंकि ये दोनों दर्शन भी ईश्वर के अस्तित्व को नहीं मानते हैं। परंतु ये दोनों दर्शन वेदों के अस्तित्व को मानते हैं, इसलिए ये आस्तिक वर्ग के संप्रदाय के अंतर्गत रखे गए हैं।

आस्तिक और नास्तिक का प्रायः एक अर्थ यह भी है कि परलोक, स्वर्ग, नरक की सत्ता पर विश्वास रखने वाले को आस्तिक और परलोक, स्वर्ग, नरक का खंडन करने वाले को नास्तिक कहा जाता है। भारतीय दार्शनिक संप्रदाय में आस्तिक और नास्तिक का प्रयोग इस अर्थ में नहीं हुआ है, क्योंकि इस शब्द का प्रयोग इस अर्थ में होता तो जैन और बौद्ध दर्शन भी आस्तिक के अंतर्गत आ जाते। ये दोनों दर्शन परलोक की सत्ता को स्वीकार करते हैं। तब चार्वाक दर्शन ही नास्तिक दर्शन के रूप में स्वीकार्य होता। इस संदर्भ में प्रो. हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा कहते हैं कि "यहाँ आस्तिक और नास्तिक शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में हुआ है। वेद ही वही कसौटी है जिसके आधार पर भारतीय दर्शन के संप्रदायों का विभाजन हुआ है। यह वर्गीकरण भारतीय विचारधारा में वेद की महत्ता प्रदर्शित करता है। न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा और वेदान्त दर्शनों को दोनों अर्थों में आस्तिक कहा जाता है, उन्हें इसलिए आस्तिक कहा जाता है, क्योंकि वे वेदों की प्रामाणिकता में विश्वास करते हैं। इसके अतिरिक्त इन्हें इसलिए भी आस्तिक कहा जा सकता है कि ये परलोक की सत्ता में विश्वास करते हैं। चार्वाक, जैन और बौद्ध को भी दो अर्थों में नास्तिक कहा जा सकता है। उन्हें वेद को नहीं मानने के कारण नास्तिक कहा जाता है। इसके अतिरिक्त ईश्वर के विचार का खंडन करने, अर्थात् अनीश्वरवाद को अपनाने के कारण भी उन्हें नास्तिक कहा जा सकता है।"[5]

बौद्ध दर्शन को दुःखवादी, प्रत्यक्षवादी दर्शन कहा जाता है। इसदुःखवादी दर्शन का खण्डन बुद्ध के उपदेश में हो जाता है-"मैंने केवल यह सिखाया है और यही मैं अब भी सिखाता हूँ कि दुःख है और दुःख नाश का उपाय भी है।"[6] बुद्ध ने संसार को केवल दुःखमय नहीं कहा, दुःख से मुक्ति का मार्ग भी बताया। दुःख से संबंधित चार आर्य सत्य इस प्रकार हैं-1. संसार दुःख से परिपूर्ण है, 2. दुखों के कारण भी हैं, 3. दुखों का अंत संभव है, 4. दुखों के अंत का यह मार्ग है। प्रथम आर्य सत्य को दुःख, दूसरे को दुःख समुदय, तीसरे को दुःख निरोध एवं चौथे को दुःख निरोध का मार्ग कहा जाता है।

बुद्ध ने 'दुःख निरोध के मार्ग' नामक चौथे आर्य सत्य में दुःख से मुक्ति का मार्ग

बताया है। इस मार्ग के आठ अंग हैं इसे अष्टांगिक मार्ग कहा जाता है। ये आठ अंग- सम्यक दृष्टि, सम्यक संकल्प, सम्यक वाक्, सम्यक कर्मान्त, सम्यक आजीव, सम्यक व्यायाम, सम्यक स्मृति और सम्यक समाधि हैं। अष्टांगिक मार्ग बौद्ध धर्म का आचार मार्ग है। बौद्ध धर्म में यह कथन है कि मार्गों में सबसे श्रेष्ठ अष्टांगिक मार्ग है 'मग्गानंअट्ठांगिकोसेट्ठो'। बुद्ध ने अपने प्रथम उपदेश में 'धर्मचक्र-प्रवर्तन' में इसी मार्ग का उपदेश दिया है। शील, समाधि और प्रज्ञा बौद्ध धर्म की आधार-शिला मानी जाती है, जिसके माध्यम से दुःख का निरोध किया जा सकता है। शील से यहाँ आशय पापों का न करना, सभी अकुशल कर्मों का नहीं करना, अकुशल कर्मों की ओर प्रवृत्ति न करना एवं तृष्णा का निरोध है। तृष्णा के निरोध से समस्त सांसारिक बाधाएँ समाप्त हो जाती हैं, क्लेशों से मुक्ति मिल जाती है।

बौद्ध दर्शन व्यवहारिक एवं प्रत्यक्षवादी है। बुद्ध ने कर्म के सिद्धांत का प्रतिपादन किया एवं ऐसी चीजों को स्वीकार करने से मना कर दिया, जो प्रत्यक्ष प्रतिपादित न हो। बुद्ध एवं बौद्ध दर्शन पर उपनिषदों का प्रभाव विद्वानों ने स्वीकार किया है।[7]बुद्ध ने दुःख निवारण के उपाय के संबंध में जो उपदेश दिये उसी में बौद्ध का दार्शनिक मत विवेचित हो जाता है। 'प्रतीत्यसमुत्पाद' नामक सिद्धांत जिसमें प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति को कारण के रूप में स्वीकार किया गया है। कारण को समाप्त कर देने से वस्तु स्वतः ही समाप्त हो जाएगी। बौद्ध दार्शनिक मत के विचारों की उत्पत्ति इसी से मानी जा सकती है।

प्रतीत्यसमुत्पाद को पालि में 'पटिच्यसमुत्पाद' कहा जाता है। प्रतीत्य का अर्थ है किसी वस्तु की उपस्थित होने पर,समुत्पाद का अर्थ है किसी अन्य वस्तु की उत्पत्ति। प्रतीत्यसमुत्पाद का साधारण अर्थ 'सापेक्ष कारणतावाद'[8] है। किसी चीज की उत्पत्ति किसी पर निर्भर होती है अर्थात् यदि कुछ उत्पन्न हुआ है तो उसके सापेक्ष दूसरी चीज अवश्य रही होगी। 'यदि 'वह है' तो 'यह है' उसके उदय से इसका उदय होता है।'[9] यहाँ यदि में यह निर्भर है कि कार्य को बनाये रखने वाले कारकों को अलग कर देने से सन्तति का निरोध हो जाता है। 'वह' अनुपस्थित है तो 'यह' नहीं होगा 'वह' के निरोध से 'यह' का निरोध हो जाएगा। यहाँ एक स्वभाववादी दृष्टि है दूसरी व्यवहारिक दृष्टि है। दोनों में बहुत बड़ा अंतर है। एक में हमारे चाहने न चाहने से जो होना है होकर रहेगा और दूसरे में मनुष्य के प्रयत्न की पूरी संभावना है, क्योंकि जो आरंभ हुआ है, उसे समाप्त भी किया जा सकता है। उसके आरंभ होने के कारण को जान, उसे समाप्त कर देने से 'यह' समाप्त हो जाएगा।

बुद्ध ने ईश्वर की सत्ता को अस्वीकार किया। इस अस्वीकार ने यह प्रश्न खड़ा किया कि जब ईश्वर नहीं है तो कौन है जो जीवन का निर्धारण करता है? अगर स्रष्टा ईश्वर नहीं है, तो कौन है? बुद्ध का मानना है कि अगर जगत का स्रष्टा ईश्वर है तो उसे जगत को उसी रूप में मौन स्वरूप स्वीकार करना पड़ता है जैसा उसने बनाया है, जैसा कुम्हार के हाथों के बने भांड होते हैं। ऐसा होने पर सत्कर्म की कोई संभावना ही नहीं

होती। दुःख-शोक तथा सत्कर्म एवं दुष्कर्म नाम की कोई अवधारणा ही नहीं होती क्योंकि प्रत्येक कर्म का स्रोत तो वही होता है। इस धारणा के अनुसार ईश्वर को स्वयंभू नहीं कहा जा सकता है। प्रतीत्यसमुत्पाद का सिद्धांत परमतत्व की अवधारणा पर भी लागू होता है। ईश्वर के होने के भी कारण होंगे प्रत्येक वस्तु दूसरे पर निर्भर है तो परमतत्व भी दूसरे पर निर्भर होगा, जो दूसरे पर निर्भर है वह स्वतंत्र नहीं हो सकता है। जो स्वतंत्र नहीं है उसे कैसे ईश्वर कहा जा सकता है?

प्रश्न यह भी उठता है जब न कोई ईश्वर है, न कोई स्रष्टा है, न परम-आत्मा है, न परम तत्व ही है, तो सभी वस्तुएँ उत्पन्न कैसे होती हैं? बुद्ध ने अच्छे-बुरे कर्म को ही वस्तुओं के उत्पन्न होने का कारण माना है।" बुद्ध ने कहा "समस्त विश्व है तुकता (कारण) के नियम के अधीन है यह कारण अमानसिक नहीं है, क्योंकि जिस स्वर्ण से प्याला बना है वह ढल गया स्वर्ण है। अच्छा है कि व्यर्थ की बारीकियों पर व्यर्थ कपोल चिंतन में न रत हों, अच्छा है कि हम स्वत्व और स्वार्थ-भाव को त्याग करें और चूंकि समस्त वस्तुएँ कारणों से उत्पन्न होती हैं, इसलिए हम सत्कर्म करें ताकि कार्य से सत्परिणाम उत्पन्न हों।"[10]

बुद्ध यथार्थवादी थे। उन्होंने ऐसे ईश्वर पर विश्वास न था जिन्हें भेटें देकर एवं प्रार्थनाओं द्वारा दुःख का निवारण किया जा सके। दुखों के निवारण के लिए ईश्वर के प्रति आस्था, निवृत्तिमार्गी आत्मदमन, उपासना आदि को बुद्ध निर्थक मानते थे। ईश्वर के अस्तित्व को लेकर जब उनका कोई शिष्य अगर प्रश्न करता ईश्वर है या नहीं? तो इस तरह के प्रश्नों का उत्तर वे नहीं देते थे। ऐसे प्रश्नों से बुद्ध हमेशा बचते हैं जिसका उत्तर वो दे तो सकते थे, परंतु तर्क या प्रमाण के साथ सामने वाले को पूरी तरह संतुष्ट नहीं कर सकते। उनसे जब ऐसे दार्शनिक प्रश्न पूछे जाते हैं जिसको वे उपयोगहीन समझते तो वो चुप हो जाते थे। इस प्रकार के प्रश्नों के संदर्भ में बुद्ध का मानना था कि जब किसी व्यक्ति की कोख में तीर घुसा हुआ है तो कोई मूर्ख की भांति उसे निकालने के बजाय इसमें समय बर्बाद करें की तीर कब बना, किसने बनाया, क्यों बनाया? उसे इसे निकालने और उस पीड़ा से मुक्ति के बारे में सोचना चाहिए। दुःख से मुक्ति के लिए ईश्वर की शरण में जाना, उसकी उपासना करना आदि के संदर्भ में बुद्ध का यही मानना था। बुद्ध को जिस समस्या ने अधिक चिंतित किया वह व्यवहारिक थी सैद्धांतिक नहीं। इस समस्या का संबंध संसार में फैला अपार दुःख था।इसी दुःख ने बुद्ध को विचलित किया और वे समस्या का समाधान ढूंढने का प्रयास करने लगे, यह समाधान भी व्यवहारिक होना उचित था।

अपने संघों की स्थापना के द्वारा बुद्ध ने उन व्यक्तियों के लिए सर्वोत्तम परिस्थितियाँ उत्पन्न करने का प्रयास किया जो श्रेयस ज्ञान की प्राप्ति के उद्देश्य से अपनी चेतना को प्रसार देने के लिए कृतसंकल्प थे। फिर उन्होंने उनको जीवन के शिक्षकों, विश्व बंधुत्व के ध्वजवाहकों के रूप में उसी जीवन में वापस भेजा। बुद्ध ने अपने शिष्यों से मनसा-वाचा-कर्मणाजैसे संयम की माँग की और जिसके बिना निर्वाण पाना सर्वथा असंभव है,

वह उन लोगों के लिए लगभग पूरी तरह असाध्य है जो जीवन की सामान्य दशाओं से घिरे हुए हैं, कारण कि हजारों बाहरी परिस्थितियाँ और छोटी-मोटी जिम्मेदारियाँ लगातार मनुष्य को उसके ध्येय से विचलित करती हैं। लेकिन समान आकांक्षाओं तथा भिन्न विचारों और आदतों वाले व्यक्तियों के बीच रहकर बिताया जानेवाला जीवन इसमें एक प्रमुख सहायक सिद्ध हुआ क्योंकि इससे वांछित दिशा में अपनी ऊर्जा नष्ट किए बिना विकास करने की संभावनाएँ उत्पन्न हुईं।

बुद्ध की शिक्षा थी कि पूरे संसार में साहचर्य से मुक्त किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं होता, जो जानते थे कि सहधर्मी के बिना किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं है, जो समझते थे कि स्वार्थी और दंभी मनुष्य भविष्य का जतन नहीं कर सकता क्योंकि सृष्टि के नियम के अनुसार वह उस जीवन-धारा से बाहर ही रहेगा जो तमाम अस्तित्वमान वस्तुओं को पूर्णता की ओर ले जाती है। उन्होंने धैर्य के साथ बीजों का रोपण किया,संघ की आधारशिला रखी और उन्हें अनुमान था कि यही दूरस्थ भविष्य में यह महान विश्व बंधुत्व को साकार करने का आधार बनेगा।

संघ में प्रवेश के लिए दो नियमों का पालन आवश्यक था-निजी संपत्ति का पूर्ण निग्रह और नैतिक शुद्धता। अन्य नियमों का संबंध कठिन आत्मसंयम और संघ के दायित्वों से था। संघ में प्रवेश करने वाला हर व्यक्ति कहता था कि 'मैं बुद्ध की शरण में जाता हूँ; में धर्म की शरण में जाता हूँ। मैं संघ की शरण में जाता हूँ जो मेरे भय का विनाशक हैं। बुद्ध अपनी शिक्षा से, धर्म अपने अपरिवर्तनीय सत्य से और संघ बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म का उदाहरण सामने रखकर इस भय का विनाश करते हैं।जीवन में संपत्ति का निग्रह कठोरता से करना आवश्यक था। इसके अलावा यह भी आवश्यक था कि संपत्ति का निग्रह बाह्य व्यवहार में ही प्रदर्शित न किया जाए बल्कि वह चेतना का अंग भी बने।एक बार तथागत से एक शिष्य ने पूछाः "व्यक्ति कैसे समझे कि उसने संपत्ति के निग्रह के नियम का पालन किया है? एक शिष्य ने अपनी तमाम वस्तुओं का परित्याग किया मगर उसके गुरु उसे संग्रह का ताना देते ही रहे। और शिष्य के आसपास तमाम सांसारिक वस्तुएँ मौजूद थीं, मगर उसे ताना देने का पात्र नहीं समझा गया।' 'संग्रह की भावना का पता वस्तुओं से नहीं, विचारों से चलता है। किसी व्यक्ति के पास संभव है बहुत सी वस्तुएँ हो मगर फिर भी वह संग्रही न हो।"[11]बुद्ध ने हमेशा यही शिक्षा दी कि यथासंभव कम वस्तुएँ पास रखी जाएँ ताकि उनसे ध्यान न भटके।

बौद्ध धर्म में निर्वाण प्राप्ति के लिए भिक्षु संघ में सम्मिलित होना और प्रव्रज्या ग्रहण करना आवश्यक माना गया है। इस कारणवश बौद्धधर्म को कठिन मार्ग की संज्ञा दी जाती है, क्योंकि गृहस्थों के लिए प्रवज्या ग्रहण करना दुष्कर कार्य है। इस संदर्भ में बौद्ध अनुयायी अनाथपिण्डिक और बुद्ध के बीच हुए संवाद से समझा जा सकता है।नगरश्रेष्ठीअनाथपिण्डिक बुद्ध से प्रश्न करता है भगवान क्या मुझे अपनी संपत्ति, अपने घर और अपने व्यवसाय का त्याग करके धर्मप्राण जीवन का आनंद प्राप्त करने

के लिए आपकी तरह गृहमुक्ति का मार्ग अपनाना चाहिए? तब बुद्ध ने उत्तर दिया- धर्मप्राण जीवन का आनंद प्रत्येक उस व्यक्ति को प्राप्त है जो आर्य अष्टांगिक मार्ग को ग्रहण करता है। वह जो संपत्ति के मोह से ग्रस्त है उसके लिए उत्तम यही है कि अपने हृदय को उसके विष से प्रभावित होने की जगह उसका निग्रह करे; परंतु जो व्यक्ति संपत्ति से बँधा हुआ नहीं है और जो संपत्ति का स्वामी होकर उसका सदुपयोग करता है, वह अपने सहचर प्राणियों के लिए वरदान है। मैं आपसे कहता हूँ, आप अपने जीवन में यथास्थान रहें और लगन से अपने उद्यम का पालन करें। मनुष्य जीवन और संपत्ति और सत्ता के कारण नहीं बल्कि जीवन और संपत्ति और सत्ता के मोह के कारण दासताको प्राप्त होता है।

भिक्षु अगर श्रममुक्त जीवन जीने के लिए संसार का परित्याग करता है तो किसी लाभ को प्राप्त नहीं होता। कारण कि अकर्मण्यता का जीवन घृणित होता हैऔर ऊर्जा का आभावहेय होता है। तथागत का धर्म यह माँग नहीं करता कि व्यक्ति गृहमुक्ति का मार्ग अपनाए या संसार का परित्याग करे जब तक कि वह स्वयं को इसके लिए समर्पित नहीं पाता; तथागत का धर्म तो प्रत्येक व्यक्ति से यह अपेक्षा करता है कि वह स्वतत्व की भ्रांति से मुक्त हो, हृदय को शुद्ध रखे, आनंद की पिपासा का परित्याग करे और सजीवन का निर्वाह करे।

'और व्यक्ति चाहे जो करें चाहे वे हस्तशिल्पियों, वाणिकों या राजसेवकों के रूप में संसार में रहें या संसार का परित्याग करके धर्म-चिंतन का जीवन बिताएँ, उन्हें चाहिए कि समर्पित हृदय से अपना कार्य करें, लगनशील और ऊर्जावान बनें। और अगर वे कमल-समान बनते हैं जो जल में उत्पन्न होकर भी जल से प्रभावित नहीं होता, अगर वे ईर्ष्या या घृणा को प्रश्रय दिए बिना जीवन-संघर्ष करते हैं, अगर वे संसार में स्वार्थ का नहीं, सत्य का जीवन बिताते हैं तो निश्चय ही उनके मन में आनंद, शांति और प्रसन्नता का वास होगा।'[12]

पालि सुत्तों के अनुसार बुद्ध ने कभी उस सर्वज्ञता का दावा नहीं किया जिसे उनके शिष्यों और अनुयायियों ने उनसे जोड़ रखा है। मज्झिम निकाय में उनका वक्तव्य है-"वे वच्छ, जो लोग तुमसे कहें कि मुनि गौतम सर्वज्ञानी और सर्वदर्शी हैं, तथा पूर्वानुमान और ज्ञान की अनंत शक्तियों के स्वामी होने का दावा करते हैं, और यह कहते हैं कि 'गति और अगति, जाग्रति या सुसुप्ति में सर्वदा सर्वज्ञता की शक्ति मुझमें निहित है, वे लोग समस्त सत्य के विपरीत मुझ पर दोषारोपण करते हैं।[13]

अतः कहा जा सकता है कि बुद्ध की शिक्षाओं में कुछ भी अमूर्त नहीं था। उन्होंने कभी भी विद्यमान यथार्थ के आगे रहस्यवादी आदर्श और पारलौकिक जीवन को महत्त्व नहीं दिया। उन्होंने विद्यमान क्षण में समस्त विद्यमान वस्तुओं और दशाओं की यथार्थता पर जोर दिया। और चूंकि उनके कार्यकलापों और विचारों का संबंध अधिकतर जीवन की दशाओं से था इसलिए दैनिक जीवन से ही उन्होंने अपने प्रवचनों और कथाओं की

सामग्री ली जिसके लिए उन्होंने सरल से सरल बिंबों और तुलनाओं का उपयोग किया। उनका जीवन दर्शन अत्यंत व्यवहारिक और वैज्ञानिकता के निकट है। जो लोक कल्याण और मानवता की भावना लिए हुए है।

## संदर्भ ग्रंथ


1. शर्मा, डॉ. राममूर्ति, भारतीय दर्शन कीचिंतनधारा,चौखम्बा ओरियण्टालिया, दिल्ली, संस्करण-2001 ई.,पृ.-1
2. चट्टोपाध्याय, देवी प्रसाद, भारतीय दर्शन सरल परिचय, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2004 ई.पृ.-40
3. दासगुप्ता, एस.एन.,ए हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलोसोफी, वॉल्यूम-1, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, संस्करण-1997 ई.,पृ.-68
4. मिश्र, उमेश, कन्सेप्शन ऑफ मेटरअकोर्डिंगटू न्याय-वैशेषिक, इलाहाबाद, संस्करण-2019 ई.,पृ.-2
5. सिन्हा, प्रो. हरेन्द्र प्रसाद, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, दिल्ली,संस्करण-2018 ई.पृ.-7
6. ओल्डेनबुर्ग,हमबुर्ग,बुद्धापृ.-216-17
7. सिन्हा, प्रो.हरेन्द्र प्रसाद, भारतीय दर्शन की रूपरेखा,मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-2018 ई.,पृ.-113
8. देवराज, डॉ. नन्द किशोर, भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ, संस्करण-2002 ई., पृ.-168
9. हिरियन्ना, एम., भारतीय दर्शन की रुपरेखा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण-2000 ई.,पृ.-114
10. मूलर, एफ. मेक्स, सैक्रेड बुक्स ऑफ दी इस्र्ट, खण्ड-19, ओक्सफोर्ड, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-1979 ई., पृ.-61
11. कश्यप, भिक्खु जगदीश, मज्झिमनिकायपालि, बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, नालंदा,संस्करण-1958 ई., पृ.-365
12. मूलर, एफ. मेक्स, सैक्रेड बुक्स ऑफ दी इस्र्ट, खण्ड-19, ओक्सफोर्ड, मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण-1979 ई., पृ.-35
13. कश्यप, भिक्खु जगदीश, मज्झिमनिकायपालि, बिहार राजकीय पालि प्रकाशन मण्डल, नालंदा,संस्करण-1958 ई.,पृ.-482

# इस अंक के लेखक

**प्रो. मिलन रानी जमातिया**
विभागाध्यक्ष, हिंदी विभाग, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, त्रिपुरा

**कीर्ति उपाध्याय**
शोधार्थी, त्रिपुरा विश्वविद्यालय, सूर्यमणिनगर, पश्चिम त्रिपुरा
ई-मेल- kirtikittu11@gmail.com

**डॉ. जोराम आनिया**
हिंदी विभाग, देरा नातुंग गवर्मेंट कॉलेज, ईटानगर, अरुणाचल प्रदेश

**डॉ. काजू कुमारी साव**
असिस्टेंट प्रोफेसर, काजी नज़रूल विश्वविद्यालय (आसनसोल, पश्चिम बंगाल)
ईमेल : Kaju.shaw12@gmail.com

**डॉ. राहुल देव पांडेय**
जे.के. नगर लाइन पार, कुम्हार पट्टी, बिधानबाग, जिला-पश्चिम बर्धमान, प.बंगाल, पिन-713337

**नीता शर्मा**
64, झालूपारा, शिलांग-793002 मेघालय

**गीता लिम्बू**
रिनजाह, लापांग, मावबीना, शिवधारा, मकान नंबर-105,
पूर्वी खासी हिल्स, मेघालय, पिन-793006

**डॉ. चन्दन सिंह**
सलाहकार, भारतवाणी परियोजना
भारतीय भाषा संस्थान, मैसूर, कर्नाटक-570006
ई मेल-chandan2010singh@gmail.com

**डॉ. चन्द्रशेखर चौबे**
क्षेत्रीय निदेशक, केंद्रीय हिंदी संस्थान, क्षेत्रीय केंद्र गुवाहाटी
हिदायतपुर, गुवाहाटी क्लब, गुवाहाटी (असम)–781003

**डॉ. खंगेम्बम खोनी**
द्वारा श्री खंगेम्बम इबोचौबा सिंह, केइशम्पत, केइशम लेइकै,
मणिपुर रूरल बैंक के निकट, इंफाल (मणिपुर), पिन-795001

**डायाफिरा खारसाती**
सहायक प्रोफेसर, सेंट एंथोनीज कॉलेज, शिलांग

**राजेंद्र कुमार राम**
राजेंद्र कुमार राम, अधिकारी, नेहू, शिलांग, मेघालय

**डॉ. कृष्ण कुमार साह**
हिंदी विभाग, पूर्वोत्तर पर्वतीय विश्वविद्यालय, शिलांग-793022
ई.मेलः sahkrishna075@gmail.com